हमारे पुराने नगर
डा० उदय नारायण राय

हमारे पुराने नगर

डॉक्टर उदय नारायण राय
रीडर
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रकाशक

हिन्दुस्तानी एकेडेमी

इलाहाबाद

१९६८

प्रथम संस्करण

मूल्य { अजिल्द—३.२५
{ सजिल्द—४.००

मुद्रक

साइंटिफिक प्रिंटर्स

इलाहाबाद

प्राचीन भारतीय महानगरों
को
पावन स्मृति में

"सर्व्व - भूत - हित - सुखायास्तु"

प्रकाशकीय

पुरा काल में भारतीय जीवन के आदर्श-केन्द्र ग्राम रहे हैं, किन्तु भारतीय मनीषा सदा से नागर रही है और साथ ही ग्राम और नगर के जीवन में एक आदर्श-युक्त सन्तुलन भी रहा है। गाँव में फल-फूल कर अपने वर्चस्व की परीक्षा के लिए प्रत्येक रचनाकार कृतिकर्मी अथवा यान्त्रिक को नगर में आना पड़ता था। वहीं वह पारखियों और विशेषज्ञों का अनुमोदन प्राप्त करता था। परिणामस्वरूप नगर-जीवन उत्तरोत्तर समृद्ध होता जाता था। पाटलिपुत्र, अयोध्या, काशी, प्रयाग, तक्षशिला, प्रवरपुर, थानेश्वर, नालन्दा, मिथिला, ताम्रलिप्ति और चम्पा आदि नगरों की यही कहानी है। बड़े-बड़े काल-खंडों को पार करते हुए प्राचीन नगरों की कहानी का विस्तार होता गया। परिखा, प्राकार, तोरणद्वार, हाट, राजमार्ग तथा रंगशाला आदि के निर्माण के माध्यम से भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करते हुए हमारे पुराने नगर किस प्रकार उपनगर, शाखानगर, सीमान्तपुर तक विस्तारित होते हुए वाणिज्य-व्यापार और विदेश-यात्रा के निमित्त पत्तन (बन्दर-गाह) तक पहुँच चुके थे, यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं रोचक इतिहास है।

दुर्भाग्य का विषय है कि विदेशी निर्माण-कौशल और अभियान्त्रिकी से अभिभूत आज का शिक्षित वर्ग भी अपने देश के अतीत की इस गौरव-गाथा से नितान्त अपरिचित है। 'हमारे पुराने नगर' नामक पुस्तक इसी चिन्त्य अभाव की पूर्ति करती है। इसके लेखक डॉ० उदय नारायण राय प्रस्तुत विषय के अधिकारी विद्वान् हैं। उन्होंने प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों को बड़ी सरल भाषा तथा सुबोध शैली में लिखा है ताकि सामान्य पाठक भी विषय को सरलता से मनोगत कर लें। हमारा विश्वास है कि एकेडेमी का यह प्रकाशन विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

अक्तूबर, १९६८

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

उमाशंकर शुक्ल
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

आमुख

सा रम्या नगरी महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सापि राजपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः ।
उद्‌रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ।।

नगर, मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास का मुख्य समाश्रय हर समय ही रहा है। यह सोचना कि प्राचीन युग में हमारे देश में नगर नहीं हुआ करते थे या पुर और ग्राम में उस समय कोई विशेष अन्तर न था, बड़ी भारी भूल होगी। हमारे प्राचीन शिल्प-शास्त्रों में नगर और ग्राम की अलग परिभाषा तथा उनके निर्माण की पृथक् योजनाएँ उपलब्ध होती हैं। आर्थिक दृष्टि से यदि ग्राम-जीवन कृषिमूलक था, तो पुर-जीवन व्यवसाय एवं वाणिज्यमूलक। नगर अपनी व्यावसायिक वस्तुओं के विनिमय द्वारा ग्राम से खाद्यान्न प्राप्त करता था। प्राचीन भारतीय साहित्य में विभिन्न कोटि के नगरों के उल्लेख मिलते हैं; यथा राजधानी, पुटभेदन (बड़े व्यापारिक नगर), पत्तन (बन्दरगाह) तथा द्रोणीमुख (नदी के मुहाने के समीप स्थित पुर) आदि।

महाभारत तथा रामायण में अयोध्या, मथुरा, द्वारका, हस्तिनापुर एवं इन्द्रप्रस्थ आदि पुरियों के मनोरम विवरण मिलते हैं। उनके शब्दचित्रण में प्राचीन महानगरों के ऐश्वर्य एवं ठाटबाट की झाँकी प्राप्त होती है। अन्यत्र पुराणों, ऐतिहासिक महाकाव्यों एवं मूलभूत पाली तथा प्राकृत ग्रन्थों में भी नगरों का वर्णन हुआ है जो कि सर्वथा रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक है।

कुछ विद्वानों का यह कथन कि बाहरी प्रभावों के कारण भारतवर्ष में नगरों की उत्पत्ति हुई थी, भ्रान्तिमूलक है। हमारी प्रथम नागरिक सभ्यता सैन्धव सभ्यता थी, जिसकी सहज विशेषताएँ समकालीन विदेशी पुर-सभ्यताओं में अप्राप्य थीं। वहाँ की कला, लिपि तथा सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं में भारतीयता की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। हमारी नगर-निर्माणपद्धति निश्चय ही स्वदेशी

वातावरण द्वारा निर्धारित थी। भारत-दर्शन करने वाले एक से एक विदेशी यात्री हमारे प्राचीन नगरों की शोभा और समृद्धि को देख कर दंग रह गए थे। भारतीय पुरवासियों की वेशभूषा, रहन-सहन, वाक्पटुता तथा कलात्मक अभिरुचि ने उन्हें प्रभावित किया था।

इन तथ्यों की आलोचनात्मक समीक्षा करते हुए जब 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन' शीर्षक मेरा ग्रन्थ निकला, उस समय इसके सहृदय पाठकों ने मुझे सुझाव दिया कि इस विषय पर अत्यन्त सरल हिन्दी भाषा में एक ऐसी रचना प्रस्तुत की जाय, जो साधारण साक्षर व्यक्ति के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सके। हर्ष की बात है कि अल्प समय में ही इस कोटि के ग्रन्थ का प्रणयन करने में मैं समर्थ हो सका हूँ। राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के अनन्तर हमारा राष्ट्र अब आर्थिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता के राजमार्ग पर अग्रसर हो चुका है। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि जनसाधारण के मानस में भी अपनी अतीत-कालीन सांस्कृतिक निधि के परिज्ञान के विषय में एक नवीन जिज्ञासा का समुन्मीलन हो। प्रस्तुत प्रबन्ध इसी जिज्ञासा की संपूर्ति में एक सर्वथा अभिनव प्रयास है। आशा है, यह उपादेय एवं अपने अभीष्ट की प्राप्ति में सफल हो सकेगा। अन्त में मर्मज्ञों से मेरा निवेदन है :

"दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम्।
आवृणुध्वमतो दोषान् विवृणुध्वं गुणान् बुधाः ॥"

आश्विन, शुक्ल पक्ष
विजयादशमी
श्रीसंवत् २०२५

उदय नारायण राय
प्राचीन इतिहास विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय

विषय-सूची

चित्र-सूची

सौजन्य-स्वीकृति

चित्रानुकृति एवं चित्रों के पुनरुत्पादन तथा प्रयोग की आज्ञा के निमित्त मैं निम्नलिखित सज्जनों एवं संस्थाओं का अत्यन्त आभारी हूँ :

(१) डॉयरेक्टर जेनरल ऑफ आर्क्यालोजी इन इण्डिया, चित्र-संख्यायें १, २, ४, ८

(२) सुपरिंटेंडेंट, राजकीय संग्रहालय, मद्रास, चित्र-संख्या ३

(३) बोर्ड ऑफ ट्रस्टीज़, इण्डियन म्यूज़ियम, कलकत्ता:—चित्र-संख्यायें ५, ६

(४) प्रोफेसर कृष्णदत्त वाजपेयी, अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, सागर-विश्वविद्यालय:—चित्र-संख्या ७
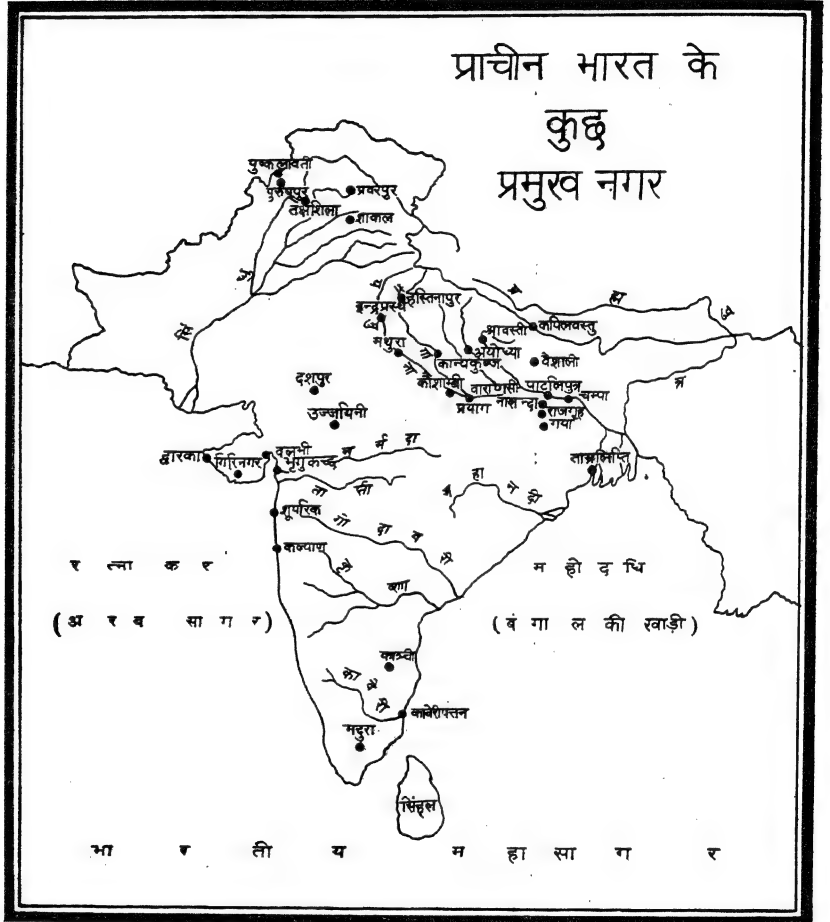
प्रवरपुर (श्रीनगर), शाकल (स्यालकोट), पुरुषपुर (पेशावर), भृगुकच्छ (भडौंच), श्रावस्ती (सहेटमहेट), कान्यकुब्ज (कन्नौज), ताम्रलिप्ति (तामलुक), दशपुर (मन्दसोर), गिरिनगर (गिरिनार), राजगृह (राजगिर), काञ्ची (काञ्जीवरम्), वैशाली (बसाढ़) ।

नगरों की उत्पत्ति और विकास

१

दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई जैसे बड़े शहरों के ठाट-बाट और रौनक को जब हम देखते हैं तो हमारे मन में सवाल उठता है कि पुराने जमाने में नगर किस तरह बनाये जाते थे, उनमें चहल-पहल, मकान, सड़कें और सवारियाँ कैसी हुआ करती थीं ? इस जिज्ञासा को लेकर जब हम अपने प्राचीन साहित्य के पन्नों को पलटते हैं तो इस नतीजे पर आते हैं कि नदियों के किनारे, समुद्र की छोर और तिजारती रास्तों पर एक से एक सुन्दर नगर खड़े थे। यह तो एक मानी बात है कि धर्म, कला और विद्या की दृष्टि से हमारी सभ्यता काफी बढ़ी-चढ़ी थी। आज से लगभग चार हजार साल पहले जब कि दुनियाँ के कुछ देश सभ्य कहाने से पीछे छूटे हुए थे, नगरों से हमारी जानकारी हो चुकी थी। उस समय हमारे देश के लोगों ने सिन्धु नदी के किनारे और आस-पास सुन्दर नगरों को खड़ा किया, जिनका सीधा सम्बन्ध विदेशों के साथ था। धीरे-धीरे जैसे-जैसे उद्योग-धंधे बढ़ने लगे और नये व्यापारिक मार्ग चालू हुए, वैसे-वैसे नगरों की संख्या बढ़ती गई। वह समय जल्दी ही आया जब कि हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक हमारी मातृभूमि पर नगरों का जाल बिछ गया।

ऊपर हम कह आए हैं कि हमारे सबसे पुराने नगर सिन्धु की घाटी में बसे हुए थे। आपने अपने देश के इतिहास के सिलसिले में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो का नाम अवश्य सुना होगा। हड़प्पा पश्चिमी पंजाब में स्थित है और

मोहनजोदड़ो सिन्ध में। दोनों ही स्थानों की भौगोलिक स्थिति बड़ी ही अनुकूल थी। सिन्धु की उपत्यका में बसे होने के कारण आने-जाने का जरिया ठीक ही था। बाहरी देशों के साथ भी इनका अच्छा-खासा सम्बन्ध हो गया था। प्राकृतिक और कृत्रिम सुविधाओं के कारण कम ही समय में इन दोनों जगहों पर सुन्दर नगर बस गये थे। बनावट की दृष्टि से दोनों ही नगर एक ही जैसे थे। दोनों ही का घेरा तीन मील के करीब था और इनमें से हरेक दो हिस्सों में बँटा था। पश्चिमी हिस्से में एक छोटा सा गढ़ था, जिसमें राज्य के खास कर्मचारी और समृद्ध नागरिक रहते थे। पूर्वी हिस्से में नगर का वह भाग आबाद था जिसमें साधारण तपके के लोग रहते थे। दोनों ही नगरों के गढ़, आकार में समानान्तर चतुर्भुज की तरह थे। लगता है कि आदिकाल में हमारे देश के लोग इस आकृति के बड़े प्रेमी थे। बाद में चल कर गंगा-घाटी के भी कुछ नगरों का आकार समानान्तर चतुर्भुज की तरह था। दोनों ही नगरों की लम्बाई लगभग पाँच सौ गज और चौड़ाई तीन सौ गज थी।

हड़प्पा का गढ़ एक चबूतरे पर बना हुआ था, जो कि जमीन की सतह से काफी ऊँचाई पर था। बाहरी हमलों से बचाव के लिये इसके चारो ओर एक ऊँची दीवाल खड़ी की गई थी, जो नहीं कुछ तो ४५ फीट चौड़ी रही होगी। इसमें हर दिशा में दरवाजे बने थे, जो निश्चित समय पर खुलते और बन्द होते थे। वहाँ रखवाली के लिये पहरेदार तैनात कर दिये गये थे। सुरक्षा के लिये अधिक से अधिक सावधानी बर्ती गई थी। दीवाल की ऊँचाई पर मजबूत बुर्ज़ बना दिये गये थे, जिनमें हथियारबन्द सिपाही रहते थे। जब भी दुश्मन धावा बोलता था, वे उसे भीतर घुसने से रोक देते थे। किले के भीतर का हिस्सा घना आबाद था। सड़कें चौड़ी और मजबूत थीं और एक दूसरे को समकोण पर काटती थीं। यह इस बात का प्रमाण है कि हमारे कलाकारों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था।

बाहर की ओर उत्तर की दिशा में अनाज के बखार बने थे। राज्य इनमें अन्न जमा करता था। उस जमाने में सिक्के नहीं थे। लगान की वसूली और कर्मचारियों की तनख्वाहें अनाज के ही रूप में दी जाती थीं। किले के दक्षिण की ओर कब्रगाहें बनी थीं, जो दो किस्मों की थीं। एक तरह की तो वे जिनमें अस्थि-पंजर खण्डित अवस्था में मिलते हैं। लगता है कि इनमें लाशें जल्दीबाजी में दफनाई गई थीं। हो सकता है कि किसी युद्ध या संक्रामक बीमारी में तमाम व्यक्ति मर गये और उनकी लाशें कुछ समय तक अपनी जगह पर सड़ती रहीं। जब बाद में शान्ति का समय आया तो बची हड्डियाँ बिना किसी तैयारी के जैसे-

तैसे गाड़ दी गईं। पर, दूसरे तरह की कब्रों में पूरा अस्थि-पंजर जीवन में काम आने वाली चीजों के साथ दफनाया गया। कुछ ऐसी धारणा थी कि मरे व्यक्ति को दूसरे लोक की यात्रा में वे साथ देती हैं। इस तरह का विश्वास बाहरी देशों में भी उस समय था। मिस्र और मेसोपोटामियाँ की बहुत पुरानी कब्रों में अनाज के दाने और शृंगार के काम में आने वाली वस्तुएँ मिली हैं।

मोहनजोदड़ो का किला भी उसी सिद्धान्त पर बना हुआ था। इसके भीतर किसी मकान के आँगन के बीच एक बड़ा जलकुण्ड खुदा हुआ था, जो ३९ फीट लम्बा, २३ फीट चौड़ा और ८ फीट गहरा था। इसके चारो ओर सीढ़ियाँ बनी थीं ताकि स्नान करने वाले व्यक्ति आसानी से नीचे उतर सकें। जलकुण्ड के चारो ओर बरामदे बने थे, जिनके पीछे हर दिशा में कोठरियाँ और गलियारे भी थे। इन्हीं कोठरियों में एक में कुआँ खुदा था, जिससे कुण्ड में पानी भरा जाता था। इनकी छत पर एक मंजिल और भी बनी थी जिसमें उसी तरह बरामदे, गलियारे और कोठरयाँ थीं। ऊपर पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ बनी थीं जिनके खण्डहर प्राप्त हुए हैं। पूरी इमारत के निर्माण में पक्की ईंटों को इस्तेमाल में लाया गया था। बाहर से यह भवन १८० फीट लम्बा और १०८ फीट चौड़ा था। पुरवासियों के सामाजिक जीवन में इस जल-कुण्ड का विशेष महत्त्व था। नागरिक खास मौकों पर इसमें नहाकर दिल-बहलाव करते थे। इस प्रकार के भवन का नमूना दुनियाँ के अन्य किसी भी देश में नहीं मिलता। इससे जाहिर है कि हमारे कारीगर अपनी कला में बड़ी ऊँची दखल रखने वाले थे और उनकी प्रतिभा मौलिक कोटि की थी।

इस जलकुण्ड से कुछ दूर हट कर अनाज का एक बड़ा बखार बना हुआ था। अपने समय के हिसाब से यह भी एक बड़े ही अचरज की चीज थी। अधिक से अधिक अनाज इकट्ठा किये जाने के लिए राज्य की ओर से यह बना हुआ था। विद्वानों का ऐसा अन्दाज है कि इसमें इतना अन्न आसानी से आ सकता था कि इससे महीनों तक सैकड़ों मजदूरों को मजदूरी दी जा सकती थी। अकाल पड़ने पर जनता को इसमें से अन्न बाँट कर उसे भूखमरी से बचाया जा सकता था। यह एक मजबूत ऊँचे चबूतरे पर बना था। लम्बाई में यह १५० फीट और चौड़ाई में ७५ फीट था। बखार के भीतर छोटे-बड़े कुल २७ खाने बने थे, जिनकी भीतरी दीवालों में छोटे-छोटे छेद बना दिये गए थे जिससे अन्दर हवा का आना-जाना सम्भव हो सके। बाहर से यह एक दुर्ग की तरह दिखाई देता था। विदेशों में भी बखार बनाये जाते थे, पर इसकी तुलना में वे फीके पड़ जाते थे। यह इस बात का सबूत है कि हमारी कला उस समय बेजोड़ थी।

मोहनजोदड़ो के दुर्ग में एक सुन्दर सभा-भवन भी बना था, जो कि अपने समय की एक निराली इमारत समझी जाती थी। इसकी लम्बाई और चौड़ाई दोनों ९० फीट थी। फर्श और खम्भों में शुरू से आखीर तक ईंटों की चुनाई की गई थी। छत भी काफी मजबूत थी और २० खम्भों पर टिकी थी। ये खम्भे ४ कतारों में बँटे थे। हर कतार में ५ खम्भे थे। ये इतनी खूबसूरती के साथ खड़े किये गये थे कि सभा-भवन का भीतरी दृश्य मनमोहक था। लोगों के बैठने के लिये भी अच्छा प्रबन्ध किया गया था। चाहे यह एक राजकीय निर्माण रहा हो या जनता के सामूहिक चेष्टाओं से बना रहा हो, उस समय के लिए यह एक नई बात थी। लगता है कि नागरिक जरूरी मसलों पर विचार करने के लिये यहाँ जमा होते थे। लोगों के मनोविनोद के लिए नाच-गानों का भी यहाँ इन्तजाम होता रहा होगा।

दुर्ग के पूरब की ओर शहर का वह हिस्सा पड़ता था, जहाँ आम जनता रहती थी। यहाँ कोई बहुत खास आबादी नहीं थी, इसीलिये इसके इर्द-गिर्द चहारदीवारी नहीं खींची गई थी। पर, और मामलों में यह ढंग से बसाया गया था। इसकी सड़कें उत्तर से दक्षिण, और पूर्व से पश्चिम एक दूसरे के समानान्तर इस हिसाब से फैली थीं कि यह बराबर रकबे वाले ८ भागों में बँट गया था। हर भाग की लम्बाई १३०० फीट और चौड़ाई ८०० फीट थी। सड़कें, जो इन भागों को एक दूसरे से अलग करती थीं, कभी-कभी ३० फीट तक चौड़ी थीं। सफाई का काफी ख्याल रखा गया था। सड़कों के किनारों पर, पक्की नालियाँ बनी थीं ताकि गन्दगी उनके जरिये बाहर निकल जाय। सड़कों के दोनों ओर अच्छे मकान बने थे, जो विशाल होते हुए भी सादे थे। इनकी नीवें काफी गहराई तक दी गई थीं और दीवालें पक्की ईंटों की बनी थीं। इसी तरह फर्श और छत भी ईंटों की बनी थीं। इनमें कोई तड़क-भड़क तो न थी, पर रहने-सहने की आवश्यक सुख-सुविधायें प्राप्त थीं। स्वच्छता के लिहाज से इनमें ढकी नालियाँ बनाई गई थीं, जो कि सड़क की नाली से मिली होती थीं। इनमें रोशनदान, दरवाजे और खिड़कियाँ भी अच्छे ढंग से लगी थीं। कुछ घर कई मंजिलों के थे। ऊपर आने-जाने के लिये सीढ़ियाँ बनी थीं, जिनमें पकड़ कर चढ़ने के लिये कभी-कभी दोनों ओर आड़ भी बने होते थे। हर घर में कुँआ बना होता था। इन घरों में लकड़ियों का भी काम था, जिनमें काट-छाँट और नक्काशी का काम बाराकी के साथ किया गया था।

नागरिक अच्छे कपड़ों और गहनों के शौकीन थे। ऊनी और सूती दोनों ही तरह के वस्त्र इस्तेमाल में लाये जाते थे। पुरुष नीचे एक धोती और ऊपर एक

लम्बा दुपट्टा पहनते थे, जो केवल उनके बाँयें कंधे को ही ढकता था। मूँछ, दाढ़ी और बाल को वे सँवारते थे। धनी नागरिकों के आभूषण सोने, चाँदी और हाथी-दाँत के होते थे। करधनी, हार, कंकण, नूपुर, कर्णपूर और अंगूठी स्त्रियों के प्रिय गहने थे। उस समय बर्तन अधिकतर ताँबे, काँसे और मिट्टी के बने होते थे। थाली, तश्तरी, कटोरे, प्याले, गिलास और सुराही का व्यवहार विशेष था। मिट्टी के बर्तन चाक द्वारा गढ़े जाते थे। उन पर काले और लाल रंग की पालिश चढ़ाई जाती थी। बच्चों के खेलने के लिए मिट्टी के सुन्दर खिलौने और पत्थर की गोलियाँ बनाई जाती थीं। वहाँ के कलाकार मूर्तियाँ भी बनाते थे, जिनमें कुछ के नमूने मिले हैं। इनमें से एक प्रसिद्ध मूर्ति किसी नर्तकी की है, जो नंगी हालत में हाथ में चूड़ियाँ पहने नाचने के भाव में है। खास मूर्तियों में एक पुरुष-प्रतिमा भी है, जिसमें वह अपनी दाढ़ी और मूँछ को अच्छी तरह सँवारे हुये है। जहाजों द्वारा यहाँ के लोग समुद्री तिजारत भी करते थे। लिखने की कला इन लोगों को मालूम थी। इनकी लिपि के नमूने मिले हैं, मगर वे अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं, नहीं तो हमारी जानकारी इन नगरों के बारे में अधिक पूरी होती। पहले कुछ विद्वानों का ऐसा विचार था कि सिन्धु-घाटी की नागरिक सभ्यता का जन्म विदेशी असर से हुआ था। पर, एकाएक इस नतीजे पर पहुँच जाना गलत होगा। इन नगरों की कला और सामाजिक जीवन में कुछ खास बातें ऐसी थीं, जो कि बाहर और कहीं भी नहीं थीं। मोहनजोदड़ो जैसा जलकुण्ड बनाना और किसी देश के निवासियों को नहीं आता था। इसी तरह पालतू जानवरों का रस्म केवल यहीं पर था। इनकी लिपि भी निराले किस्म की थी। हमारे देश में नागरिक सभ्यता की यह उत्पत्ति स्वदेशी थी। इसके जन्म में सिन्धु नदी का बहुत बड़ा हाथ था। इसके कारण यातायात और सुरक्षा के साधन तथा तिजारती सुविधायें मिल गईं, जो कि नगर-जीवन के विकास में सहायक सिद्ध होती हैं।

समय के विकास के साथ जैसे-जैसे अर्थ, कला और समाज विकसित होने लगा, वैसे-वैसे नागरिक जीवन में भी प्रगति होने लगी। आज से २६०० साल पहले चीजों की अदला-बदली की जगह पर हमारे देश के व्यापारी सिक्कों को व्यवहार में लाने लगे थे। सिक्के की उत्पत्ति कैसे हुई, इसकी भी कहानी कुछ कम रोचक नहीं है। इस पर यहाँ कुछ प्रकाश डालना विषय के अनुकूल नहीं है। केवल इतना ही कह देना काफी होगा कि इस समय के करीब का जो हमारा पुराना साहित्य है उसमें सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्कों के उल्लेख मिलते हैं। महाभारत में युधिष्ठिर अपने खजाने की तारीफ करते हुए कहते हैं कि उसमें मैंने सौ पेटियाँ जमा कर रखी हैं और उनमें से हरेक में नहीं कुछ तो एक हजार सोने के सिक्के भरे हुए हैं।

प्रत्येक सिक्के की तौल ५ द्रोण के बराबर है। यह प्रमाण विश्वास दिलाने के लिये काफी होगा कि जिस समय महाभारत लिखा गया, उस समय मुद्रायें मौजूद थीं और तिजारती कामों में उन्हीं का व्यवहार होता था।

इसी तरह उद्योग-धन्धों का भी विकास हुआ। चतुर कारीगर सोना, चाँदी, ताँबा, कांसा, लोहा, लकड़ी और पत्थर आदि से तरह-तरह की सुन्दर वस्तुएँ गढ़ने लगे। बढ़ई, लोहार, सोनार, चर्मकार, कुम्हार, तेली, हाथी-दाँत का काम करने वाले और कम्बल बनाने वाले आदि तरह-तरह के व्यावसायिक होने लगे। उद्योग-धंधे अब पैतृक होने लगे अर्थात् पुत्र अपने पिता के ही व्यवसाय का पालन करता था। हर व्यवसाय के पालन करने वाले लोग अब अपनी बिरादरी बनाकर रहने लगे, जिसे 'श्रेणी' कहा जाता था। इसके कुछ निजी रस्म और रीति-रिवाज थे जो कि अपने-अपने क्षेत्रों में कानून के रूप में थे, जिन्हें राज्य की ओर से मान्यता मिली थी। ख्याल इस बात का रखा जाता था कि एक तरह के व्यवसाय वाले नगर के एक ही हिस्से में रहें। यह प्रथा अब भी चली आ रही है, जैसे—ठठेरी बाज़ार, शर्राफा बाज़ार, कचौड़ी-गली आदि।

व्यापार के तरीके में भी तब्दीली आई। बनिये अब साझेदारी के सिद्धान्त पर तिजारत करने लगे। पहले से ही आपसी शर्तें साफ कर ली जाती थीं ताकि बाद में साझेदारों में कोई झगड़ा न खड़ा हो। हानि-लाभ में सबका हिस्सा लागत के हिसाब से लगा दिया जाता था। व्यापारी अधिक संख्या में इकट्ठे होकर एक साथ बाहर निकलते थे। रास्ते में चोर और डाकुओं के डर से बचने के लिए उनके पास हथियार-बन्द नौजवान होते थे। इस व्यापारमण्डली को 'सार्थ' और उसके नेता को 'सार्थवाह' कहते थे। वे अपना माल ऐसे सुदूर भागों में ले जाते थे जहाँ उनकी माँग विशेष रूप से थी। बड़े जहाज बनने लगे। समुद्रतट पर आसानी के साथ उनके रुकने तथा माल को लादने और उतारने के लिये बन्दरगाह बनाने की आवश्यकता सामने आई। इन आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों तथा राजनीतिक कारणों से नदियों के किनारे, समुद्र-तट और तिजारती रास्तों पर नगर खड़े हो गये। यदि उन्हें नक्शे में दिखाया जाय तो वह वैसे ही लगता है, जैसे नक्षत्रों से खचित आकाश।

इन नगरों में पाटलिपुत्र (आज का पटना), कान्यकुब्ज (कन्नौज), कौशाम्बी (कोसम), वैशाली (बसाढ़), नालन्दा, ताम्रलिप्ति (तामलुक), भृगुकच्छ (भड़ौंच), उज्जयिनी (उज्जैन), तक्षशिला और पुष्कलावती बहुत ही खास थे। उनका नाम बाहरी देशों में भी था। उन्होंने समय-समय पर कवियों और लेखकों

को ऊँचा साहित्य लिखने के लिये जोश भरा। महाभारत, रामायण, पुराण और इसी तरह रघुवंश आदि माहकाव्यों में भी इनका उभड़ा हुआ वर्णन मिलता है, जो कि सब तरह से रोचक और ज्ञानवर्द्धक है। इस वर्णन को पढ़ने और सुनने पर उन नगरों का निखरा रूप हमारे नेत्रों के सामने से गुजरने लगता है। विदेशी यात्री इनकी छटा पर मुग्ध थे। यूनानी लेखक मेगस्थनीज़ को दुनियाँ के सभी नगरों में पाटलिपुत्र का नगर सबसे अच्छा लगा था। यहाँ के राजमहल को देखकर चीनी यात्री फाहियान आश्चर्य में पड़ गया था। उसे ऐसा लगा मानो साक्षात् देवताओं ने ही पृथ्वी पर उतर कर उन्हें बनाया था। उसके अनुसार इस धरती के कारीगरों द्वारा वैसा महल बनाना संभव नहीं हो सकता था।

भारतीय नगर काफी लम्बे और चौड़े हुआ करते थे। चीनी यात्री ह्युयेनसांग ने अपने वर्णन में १० मील या इससे भी अधिक घेरे वाले नगरों का उल्लेख किया है। इनकी आबादी भी विशेष थी। गुजरात में अणहिलपत्तन नाम का एक नगर था। इसके बारे में कुमारपालचरित नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि वहाँ के नागरिकों को गिन लेना कुछ वैसे ही अनहोनी बात है, जैसे समुद्र की बूँदों को गिनना। प्राचीन नगरों की तड़क-भड़क, ऊँचे मकान और अटारियाँ, सड़कों पर चलती हुई सवारियों के ताँते और व्यस्त बाजारों को जब तपोवन या गाँव का निवासी पहली बार देखता था तो वह घबड़ा उठता था। नगर में रहने वाले लोग सांसारिक, और रास-रंग में लिप्त थे। इसीलिये, साधु-संन्यासी या शान्त वातावरण में रहने वाले लोग नगर के चहल-पहल से ऊबने लगते थे। महर्षि बौधायन ने लिखा है कि पुरवासी का तन-मन वहाँ की धूल से गन्दा हो जाता है और इस कारण उसे किसी भी दशा में सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।

कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तलम् नामक नाटक का नाम किसने नहीं सुना होगा? इसमें कण्व ऋषि के आश्रम का वर्णन आता है, जिसमें शार्ङ्गरव और शारद्वत नामक उनके दो प्रिय शिष्य रहते थे। आचार्य की आज्ञा के अनुसार वे शकुन्तला को लेकर राजा दुष्यन्त की राजधानी हस्तिनापुर में उसे सौंपने को पहुँचे। उसका दुष्यन्त के साथ गान्धर्व विवाह कण्व के आश्रम में पहले ही हो चुका था। शार्ङ्गरव वहाँ पहुँचते ही घबड़ा कर शारद्वत से अपने मनोभाव प्रकट करने लगा—मित्र! यह बात तो सही है कि राजा दुष्यन्त बड़े ही आचार-विचार वाले हैं और उनके राज्य का कोई भी व्यक्ति अपने धर्म और मर्यादा को नहीं छोड़ता, पर सूनी जगह पर रहने के कारण यहाँ का कोलाहल मुझे काटने दौड़ रहा है। मेरी तो हालत वैसी ही हो गई है, जिस तरह तेज आग की भयंकर लपटों से खाक होते हुये घर को

देखने पर होती है। शारद्वत भी उसका समर्थन करता हुआ कहता है कि मेरी भी दशा तुम्हारी ही तरह हो गई है। पुर में आने पर मनुष्य कुछ इसी तरह भौचक्का हो जाता है। मैं भी सांसारिक सुख और वासनाओं में चिपटे हुये नागरिकों को उसी तरह देखता हूँ, जिस तरह स्नान किया हुआ व्यक्ति तेल से सने गन्दे आदमी को, जागता सोते को, आजाद पराधीन को या पवित्र नर पापी को देखता है। इन उल्लेखों से साफ जाहिर है कि नगर-जीवन और ग्राम-जीवन तथा इसी तरह नगर-जीवन और अरण्य-जीवन में भेद था।

कालिदास का मालविकाग्निमित्रम् नाम का नाटक भी एक जाना-सुना ग्रन्थ है। इसमें ग्राम-नगर-भेद के बारे में एक बड़ा अच्छा उल्लेख मिलता है। इसके पहले अंक में गणदास और हरदत्त नाम के दो आचार्यों का वर्णन मिलता है जो कि संगीत के मर्मज्ञ थे। पर, दोनों एक दूसरे से जलते और नीचा दिखाने की ताक में रहते थे। एक दिन वे एक दूसरे को हराने की ठान कर राज-दरबार में पहुँचे और महाराज से निवेदन किये कि श्रीमन्! हम लोगों के कला-ज्ञान की परीक्षा अपने सामने लेकर हमेशा के लिये निपटारा कर दें कि हममें कौन अच्छा जानकार है? उस समय दरबार में महारानी और उनके साथ परिव्राजिका कौशिकी मौजूद थीं। महाराज देवी कौशिकी से बड़े ही अदब के साथ कहते हैं कि इन दोनों कलाकारों की ज्ञान-परीक्षा अगर आप ही कर देतीं तो अच्छा रहता। इस पर परिव्राजिका अचम्भित हो, कहती हैं—महाराज! आप भी क्या मजाक करते हैं! नगर के रहते रत्न की परख कहीं गाँव में होती है? इस कथन की तुलना हम बिहारीलाल के निम्नलिखित दोहों से कर सकते हैं—

वे न इहाँ नागर बड़े जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ गँवई गाँव गुलाब॥
कर लै सूँघि सराहि कै सबै रहे गहि मौन।
गन्धी अन्ध गुलाब को गँवई गाहक कौन॥

अजी! गाँव में गुलाब का फूलना न फूलना एक सा ही है। भला, वहाँ वे कदरदाँ जौहरी (**नागर**) कहाँ हैं, जो उसकी कीमत को समझें। अरे इत्रफरोश! तेरी अकल कहीं मारी गई है, क्या रे? तू इस बात को समझता क्यों नहीं कि तेरे गुलाब के गाहक भला कहीं गाँव (**गँवई**) में मिल सकेंगे? मालविकाग्निमित्रम् के प्रमाण से स्पष्ट है कि जो विद्वान् यह कहते हैं कि प्राचीन भारत में नगर नहीं थे, वे बड़ी गलतफहमी में हैं। ग्राम और नगर में जो अन्तर आज माना जाता है वह पहले भी माना जाता था।

आप लोगों ने भास का भी नाम सुन रखा होगा जिन्होंने स्वप्नवासवदत्तम् नामक नाटक लिखा। इसमें राजा उदयन और उनकी प्रियतमा रानी वासवदत्ता की प्रणय-कथा का निरूपण मिलता है। इसमें वर्णन आता है कि जब राजा का दल-बल सूने जंगल में ऋषि के आश्रम में प्रवेश करता है तो वहाँ खलबली मच जाती है। राजा का एक मुँहलगा कर्मचारी, जो सुलझा हुआ भी था, दूसरे कर्मचारियों को फटकार लगाता हुआ कहता है—हे! आप इस बात को समझते क्यों नहीं कि यह तपोवन है? यहाँ किसी प्रकार की भगदड़ मचाने की जरूरत नहीं है क्योंकि इससे राजा की बदनामी होगी। आश्रम में रहने वालों के साथ मीठे वचन बोलना चाहिये और अच्छा व्यवहार दिखाना चाहिये। वे नगर के अपमान से बचने के लिये ही तो आकर वन में रहते हैं। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि नगर लौकिक साधनाओं के लिये था और जंगल धर्म-साधना के लिये। इस अध्याय में नगर-जीवन की उत्पत्ति और विकास तथा ग्राम-नगर-भेद पर एक विहंगम दृष्टि डाली गई। आइये, अब अगले अध्याय में यह समझने की चेष्टा करें कि हमारे प्राचीन नगरों के निर्माण की पद्धति क्या थी?

नगर-निर्माण-पद्धति

२

आप के मन में विचार उठ सकता है कि हमारे पुराने नगर बिना किसी योजना के ही बस गये होंगे तथा वे टेढ़े-मेढ़े और देखने में कुरूप लगते रहे होंगे। इस प्रकार सोचना बहुत बड़ी भूल होगी। हमारी नगर-निर्माण-कला एक सुविकसित कला थी। इसके लिये मजे शिल्पी होते थे, जो इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि किस तरह वैज्ञानिक आधार पर नगर के विभिन्न भागों का निर्माण किया जाय। वे वास्तुकला के मर्मज्ञ होते थे। सुविधा के लिये पहले से कागज पर एक खाका खींच लिया जाता था, जिसके हिसाब से पुर-भूमि में चारो ओर कीलें गाड़ दी जाती थीं। उनमें मजबूत धागे बाँधकर और उनके सहारे चिन्ह लगाकर जाहिर कर दिया जाता था कि किस जगह नगर की खाईं, दीवाल, सड़क, राजमहल, राजकीय गृह और पुरवासियों के भवन आदि बनेंगे। नाप-जोख की इस क्रिया को '**नगरमापन**' कहा जाता था। यह शब्द हमारे पुराने साहित्य में नगर-निर्माण के प्रसंग में बार-बार आता है।

विघ्न-विनाश के लिये शास्त्रीय विधान के अनुसार देवताओं को पूजा चढ़ाई जाती थी। इसके बाद भूमि शुद्ध समझी जाती थी और नगर-निर्माण का असली काम तेजी के साथ शुरू कर दिया जाता था। सबसे पहले खाईं बनाई जाती थी। बाहरी हमलों से सुरक्षा के लिये यह काम बड़ा ही जरूरी था। आज के नगरों में खाईं इसलिये नहीं होती कि हमले का खतरा बहुधा आकाशमार्ग से होता है। पुराने जमाने में आज की तरह हवाई जहाज से बम नहीं गिराये जाते थे। दुश्मन स्थल-मार्ग से आता था और उसकी सेना चारो ओर से बस्ती पर घेरा डाल देती थी। इसलिये ज्यादे से ज्यादा बचाव के लिये काफी चौड़ी और गहरी खाईं का पुर के

इर्द-गिर्द होना हित में था। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में खाईं के लिये **'परिखा'** शब्द आता है। यूनानी यात्री मेगस्थनीज़ लिखता है कि पाटलिपुत्र की खाईं ६०० फीट चौड़ी और १५ फीट गहरी थी। कौटिल्य (चाणक्य) के अनुसार खाईं की गहराई कम से कम आदमी के तीन पोरसा के बराबर होनी चाहिये। हाथ को सीधा ऊपर तान कर खड़े होने पर मनुष्य की जो ऊँचाई निकलती है उसी को आज पोरसा या पुरुसा कहा जाता है। यह 'पुरुष' शब्द से निकला है जो कि एक तरह का नाप था। खाईं की गहराई को नापने के लिये इसका प्रयोग किया जाता था।

यदि नगर नदी के किनारे होता था, तो ऐसी हालत में खाईं के मुँह को उससे मिला देते थे। नतीजा यह होता था कि नदी के पानी से वह बराबर भरी रहती थी। जल का बहाव निरन्तर बना रहता था, इसलिए उसके गन्दा होने का कोई सवाल नहीं था। इस तरह की खाईं को **'जल-परिखा'** कहा जाता था। कभी-कभी उसके पानी में कमल या और तरह के जल में उगने वाले फूल लगा दिये जाते थे जिससे उसकी सुन्दरता बढ़ जाय। घड़ियाल, नाक (नक्र) और सूँस आदि खतरनाक जानवर भी उसके जल में छोड़ दिये जाते थे ताकि दुश्मन को उसे पार करने की जल्दी हिम्मत न पड़ सके। हमारे कवियों ने खाईं के जल की सतह पर उगे हुये सुन्दर कमल और बीच-बीच में तैरते हुये राजहंसों की छटा का रोचक वर्णन किया है। पानी से लबालब भरी हुई चौड़ी खाईं की तुलना महाभारत और पुराणों में गंगा, जमुना और सिन्धु नदियों से की गई है।

बड़े-बड़े शहरों में खाईं तीन तरह की हुआ करती थी। एक तो जल-खाईं होती थी, जिसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। दूसरे किस्म की खाईं में कीचड़ भरा होता था, जिसे **'कर्दम परिखा'** (कीचड़ वाली खाईं) कहा जाता था। तीसरी तरह की खाईं सूखी होती थी, अर्थात् न तो उसमें जल भरा जाता था और न तो कीचड़ ही। इसको **'शुष्कपरिखा'** कहा जाता था। नगर की सुरक्षा की दृष्टि से इनमें हरेक का महत्त्व ज्यादे था। खाईं के निचले हिस्से और दीवालों में पत्थर या मजबूत ईंटों की चुनाई की जाती थी। नाले, खाईं के जल में गिरते थे जिससे शहर की पूरी गन्दगी नदी के पानी में बहा दी जाती थी। यह व्यवस्था हमें बताती है कि हमारे पूर्वजों को सफाई का कितना ज्यादे ध्यान था।

खाईं को खोदते समय उसकी मिट्टी किनारे-किनारे जमा कर दी जाती थी। उसके ऊपर हाथी और जानवर चलाकर मिट्टी को खूब बैठा देते थे। इस तरह चारों ओर एक ऊँचा थूहा खड़ा हो जाता था। इसी को आधार बना कर ऊँची

दीवाल खड़ी की जाती थी जिसे **'प्राकार'** कहा जाता था। इसकी ग्राम ऊँचाई ग्रठारह हाथ के बराबर होती थी। उल्लेखनीय है कि राजपूत-काल ग्रौर बाद में मुगलों के जमाने में नगर की दीवाल की ऊँचाई उतनी ही रखी जाती थी। ग्रादि काल में दीवालें मिट्टी की होती थीं, पर बाद में चलकर ईंट की दीवालें बनने लगीं। कुछ समय ग्रौर बीतने पर पत्थर की दीवालों के निर्माण की परम्परा भी शुरू हो गई। दक्षिण भारत के मदुरा इत्यादि कुछ नगरों में पत्थर की खाईं से मजबूत किलेबन्दी की गई थी।

नगर की दीवाल में बुर्ज बनाये जाते थे जिन्हें **'अट्टालक'** कहा जाता था। मेगस्थनीज़ लिखता है कि पाटलिपुत्र की दीवाल में ५७० बुर्ज बने थे। इनकी चोटी पर तीरन्दाजों के रहने के लिये व्यवस्था हुग्रा करती थी। जब किले को शत्रु घेरता था, तो ऊपर से ही वे उन पर बाण फेंककर मार भगाने की कोशिश करते थे। हर दिशा में दीवाल में एक मुख्य दरवाजा होता था जिसे 'गोपुर' कहते थे। यदि नगर बहुत बड़ा होता था तो छोटे दरवाजे भी बना दिये जाते थे। इन्हें **'प्रतोली'** कहा जाता था। इन दरवाजों में मजबूत फाटक लगे होते थे, जो निश्चित समय पर खुलते ग्रौर बन्द होते थे। यदि कोई यात्री रात्रि को देर में पहुँचता था तो उसे नगर के फाटक बन्द मिलते थे। फिर तो उसे पूरी रात वहीं काटनी पड़ती थी। सबेरा होने पर जब फाटक खुलता था, तो वे ग्रन्दर जा पाते थे। इन दरवाजों के नाम भी रखे जाते थे। प्रथा यह थी कि फाटक के सामने जो दूसरा नगर पड़ता था, उसी के नाम पर इसका भी नाम पड़ जाता था। मथुरा का एक दरवाजा **'कान्यकुब्ज-द्वार'** कहलाता था, ग्रर्थात् वह फाटक जो कि कान्य-कुब्ज (कन्नौज) के सामने पड़ता था। इसी तरीके को बाद में मुगलों ने भी यहाँ ग्रपना लिया। उनके समय में दिल्ली का एक दरवाजा 'ग्रजमेरी दरवाजा' कहलाता था, कारण कि इसके सामने ग्रजमेर पड़ता था।

ग्राक्रमणकारी पहले मुख्य दरवाजों को जीतने के लिये प्रयास करता था, क्योंकि उसके बाद नगर में घुसने का काम काफी ग्रासान हो जाता था। इसलिये सुरक्षा के लिये यहाँ पर हर तरह की सावधानी बर्ती जाती थी। इनके पास भीतर ग्रौर बाहर स्थायी सैनिक शिविर हुग्रा करते थे। बड़े शहरों में दरवाजों के ऊपर ऊँचे बुर्ज बनाये जाते थे जिनमें छोटी-बड़ी कोठरियाँ होती थीं, जहाँ धनुष-बाण चलाने वाले रहते थे। उनका निशाना ग्रचूक होता था। वहाँ ईंट-पत्थर के घिसे टुकड़े, तेज भाले ग्रौर बर्छे, कुठार, वजनदार मुगदड़, शतघ्नियाँ, धनुष तथा ग्रग्निबाण ग्रादि इकट्ठे कर लिये जाते थे ताकि ग्राक्रमण के समय उनका उचित प्रयोग हो सके।

शतघ्नी शब्द का उल्लेख शास्त्रों में अनेक स्थलों पर हुआ है। इसका 'अर्थ सैकड़ों को खतम कर देने वाला' होता है। यह वास्तव में क्या था, इसको बताना कठिन है। शतघ्नी शब्द से इस नतीजे पर पहुँचना कि उस जमाने में तोप और बन्दूकें होती थीं और बारूद का इस्तेमाल लोगों को मालूम था, उचित न होगा। पुराने समय में लड़ाई केवल भाले, बर्छी, तलवार, फर्सा और धनुष-बाण की ही थी। दरवाजे के ऊपर बने हुये बुर्ज को **'द्वार-अट्टालक'** कहा जाता था। साँची की कला में एक स्थल पर कुशीनगर का 'द्वार-अट्टालक' बड़ी खूबसूरती के साथ दिखाया गया है। दरवाजा नीचे शत्रु-सेनाओं से घिरा हुआ है। उसके ऊपर बने हुये बुर्ज में हथियार-बन्द सिपाही पहले से ही तैनात हैं, जो किले को फतह होने से बचाने में अपने जान की बाजी लगा देते हैं। यह पूरा दृश्य बड़ा ही रोमांचकारी है। पाण्ड्यों की सुरम्य राजधानी मदुरा के प्रधान द्वार के बुर्ज पर यूनानी तीरन्दाज नियुक्त किये गये थे, जो किले पर बराबर कड़ा पहरा रखते थे।

जब खाईं और दीवाल के निर्माण की क्रिया समाप्त हो जाती थी, तो उससे नगर का आकार स्वतः निर्धारित हो जाता था। हमारे कुछ नगर आयताकार थे, यानी इनकी लम्बाई ज्यादे मगर चौड़ाई मुकाबले में कम थी। अयोध्या का आकार कुछ इसी तरह का था। हुयेनसांग के आगमन के समय हमारे देश में चौकोर नगर भी थे। हमारे शास्त्रों के अनुसार जो राजा चौकोर नगर बनाता था, उसे चारो वर्गों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) की प्राप्ति होती थी। कुछ शहर वृत्त (गोल घेरा) की शकल के भी थे। ज्यादेतर नगर अर्द्धचन्द्राकार हुआ करते थे, खास तौर पर वे जो नदी के तट पर मौजूद थे। मथुरा का आकार इसी तरह का था। पुराणों में कहा गया है कि यदि नगर नदी के किनारे हो और उस पर भी अर्द्धचन्द्राकार, फिर तो उसकी सुन्दरता और अच्छाइयों का कुछ पूछना ही नहीं है। इस तरह के नगर के बनाने की परम्परा हमारे देश में बहुत अर्से तक चलती रही। आज के युग में भी कुछ नगर आधे चाँद सरीखे लगते हैं, जैसे वाराणसी।

कारीगरों का अगला काम सड़कों का बनाना था। बड़े शहरों में सड़कें अधिक हुआ करती थीं। हवा और रोशनी की सुविधा तथा भीड़ और खतरों से बचने के लिये उनकी चौड़ाई ज्यादे रखी जाती थी। सड़कें कछुये के पीठ की तरह बीच में कुछ ऊपर उठी होती थीं ताकि उन पर पानी का जमाव न हो सके। उनके दोनों ओर नालियाँ बनी होती थीं, जिनसे नगर की गन्दगी बाहर बहा दी जाती थी। हमारे शास्त्रकारों का कहना है कि बुद्धिमान राजा को चाहिये कि वह रथ, तुरंग, हाथी और बड़ी सवारियों की सड़कों को मनुष्यों के आने जाने वाले रास्तों से अलग

रखे। इस तरह, भारी या तेज गाड़ियों से कुचलने का भय खतम हो जाता था। इन सड़कों की कटान से चौराहे बनते थे, जिन्हें 'चत्वर' या 'चतुष्क' कहा जाता था। आज का चौक शब्द इसी से निकला है। चौराहे नगर के खास भाग थे। वहाँ सेठ साहूकारों की दूकाने हुआ करती थीं। प्रधान चौराहों पर रात को रोशनी, तड़क-भड़क और सजावट खूब हुआ करती थी। वे उस जमाने के 'चाँदनी-चौक' थे। चत्वर पूजनीय समझा जाता था। उसे बाईं ओर रख कर चलना शास्त्रों में वर्जित समझा गया है। अधिकतर सन्ध्या के समय नगर के चौरस्तों पर देवी-देवताओं को पूजा चढ़ाई जाती थी। परिणाम यह होता था कि वहाँ फल-पुष्प आदि पूजा की सामग्री बिखरी रहती थी। सड़कों और चौराहों के किनारे बाज़ारें होती थीं। बड़े शहरों में कभी-कभी उनकी संख्या ८४ तक हुआ करती थी।

नगर के सबसे बीच वाले भाग में राजमहल बनाया जाता था, जिसे हमारे प्राचीन साहित्य में अधिकतर 'राजप्रासाद' कहा गया है। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य का राजमहल पाटलिपुत्र के केन्द्रीय भाग में बना था। राजप्रासाद अधिक भूमि घेरता था। हमारे कुछ पुराने विचारकों का तो यहाँ तक कहना है कि राजमहल बनाने के लिये जिस जमीन का चुनाव किया जाय उसका फैलाव पुर-भूमि के नवें हिस्से के बराबर हो। सुरक्षा की दृष्टि से कभी-कभी राजप्रासाद के इर्द-गिर्द एक ऊँची चहारदीवारी खींच दी जाती थी। नगर का यह सबसे खास हिस्सा था, अतएव इसकी हिफाजत के लिये हर तरह की सावधानी बर्ती जाती थी। वहाँ सिपाहियों का कड़ा पहरा रहता था।

राजमहल के कई खण्ड होते थे, जिन्हें 'कक्ष्या' कहा जाता था। कक्ष्यायें (खण्ड) विशाल हुआ करती थीं। कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन के राजमहल की कक्ष्यायें (खंड) इतनी बड़ी थीं कि उन्हें जल्दी पार करना कठिन था। धर्म-प्रचार के उद्देश्य से गौतम बुद्ध एक समय अपने परिवार के लोगों से मिलने के लिये आये और महल के प्रधान दरवाजे पर वे खड़े हो गये। उस समय उनके भाई नन्द भीतर थे। इसकी खबर पाते ही वे तेजी के साथ आगे बढ़े, पर कक्ष्याओं के बड़ी होने के कारण उन्हें महल के बाहर निकल आने में देरी होने लगी। वे झुँझलाकर इनकी विशालता को बार-बार धिक्कारने लगे।

महल की पहली कक्ष्या (खंड) में राजा की निजी सवारियाँ आ सकती थीं। दशरथ के राजमहल की प्रथम कक्ष्या (खंड) में गजशाला, तुरंगशाला और रथशाला बनी थीं। साधारणतया दूसरी कक्ष्या में राजा की सभा लगती थी। इसमें सभी दरबारी, सामन्त या मुख्य कर्मचारी इकट्ठा होकर राजा को विशेष मामलों में

सलाह देते थे। इसको **'आस्थान-मण्डप'** या **'बाह्यास्थान-मण्डप'** (बाहरी सभा-मण्डप) कहा जाता था। इसकी तुलना मुगल-सम्राटों के 'दर्बार-आम' से हम कर सकते हैं। तीसरी या चौथी कक्ष्या (खंड) में एक सभामण्डप और भी था। इसमें राजा के केवल चुने मंत्री या विश्वासपात्र कर्मचारी ही प्रवेश पा सकते थे, वह भी आज्ञा पाने पर। जब राजा भोजन करने के बाद विश्राम कर नेजाता था, तो वहाँ वह पेचीदे मामलों में उनसे परामर्श करता था। इस सभा-मण्डप को **'भुक्तास्थान-मण्डप'** कहा जाता था। इसकी तुलना हम मुगलों के 'दर्बार-खास' से कर सकते हैं।

राजा और रानी के इस्तेमाल के कमरे सबसे भीतरी कक्ष्या (खण्ड) में हुआ करते थे। इनमें से एक वास-गृह (सोने का कमरा) कहलाता था। इसकी दीवालों पर सुन्दर चित्र बने होते थे। इसके ऊपर एक हवादार बड़ा कमरा होता था, जहाँ राजा रानी के साथ चाँदनी और शीतल हवा का सेवन करता हुआ दिल वहलाता था। आमोद-प्रमोद और शृंगार की तरह-तरह की चीजें राजमहल में बहुतायत में प्राप्य थीं। इसके हाते के अन्दर फव्वारे, छोटे-छोटे जलाशय और सुन्दर उद्यान थे। मेगस्थनीज़ लिखता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राजमहल के घेरे के अन्दर बाहरी देशों के भी वृक्ष लगाये गये थे। हमारे देश के नरेश बागबानी के शौकीन थे। वे विदेशों से फल-फूल मँगाकर महल के उद्यान में लगवा देते थे। सरोवरों के जल में मछलियाँ पाली गई थीं, जिनसे छोटे राजकुमार मनोरंजन करते थे। रोग में काम आने वाली जड़ी-बूटियाँ भी वाटिकाओं में थीं, जो दूर-दूर से मँगा कर लगा दी गई थीं। पूरे नगर का सबसे चित्ताकर्षक भाग राजमहल ही था। विदेशी यात्रियों के अनुसार भारतीय राजमहलों में सजावट, नक्काशी और पच्चीकारी का काम जितनी बारीकी के साथ किया गया था, वह अपने ढंग का एक ही था।

नागरिकों के गृह-निर्माण में कुछ विशेष बातों पर ध्यान दिया जाता था। यह आवश्यक था कि घर का मुँह राजमार्ग की ओर ही हो। शौचालय गृह के पिछले हिस्से में बना होता था। एक तरह के उद्योग-धन्धे या कला का पालन करने वाले लोग भरसक एक ही मुहल्ले में आबाद किये जाते थे। इस बात का भी ध्यान रक्खा जाता था कि एक पुर-भाग में एक ही तरह के भवन बने हों ताकि उसकी खूबसूरती बढ़ जाय। किसी नगर-वर्णन के प्रसंग में एक प्राचीन शिलालेख में कहा गया है कि वहाँ के मकान देखने में एक ही तरह के थे। लगता था मानो वे पृथ्वी को फाड़कर एक ही समय ऊपर उग आये हों। प्रत्येक घर के दो हिस्से होते थे। बाहरी हिस्सा केवल पुरुषों के प्रयोग में रहता था। भीतरी हिस्सा 'अन्तःपुर' कहलाता था जो कि स्त्रियों के इस्तेमाल में आता था। प्रत्येक हिस्से में कई कमरे थे जो कि किसी विशेष

प्रयोजन से बने थे, जैसे—सोने, नहाने और भोजन करने के कमरे आदि। घर का एक बाहरी दरवाजा होता था। धनी नागरिक इस पर बन्दनवार सजाते थे, जिससे यह खूब सुन्दर लगता था। उज्जयिनी (उज्जैन) के नगर में वसन्तसेना नाम की एक वेश्या रहती थी। उसके घर का बाहरी दरवाजा अपनी अनोखी सुन्दरता के कारण राह चलने वाले लोगों के मन को हर लेता था। उसके चौखट के ऊपर जल का भरपूर छिड़काव कर अच्छी तरह सफाई की गई थी। उसके ऊपर चमकीला पालिश लगाया गया था। तरह-तरह के रंगीन माले उस पर लटकाये गये थे जिससे वह चित्र-विचित्र सा लग रहा था। रईसों के घर के दरवाजे इसी तरह सजे-धजे होते थे।

ऊपरी मंजिल पर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ बनी होती थीं। अधिक सुन्दरता लाने के लिये उसकी चोटी पर झंडे फहरा दिये गये थे। सफेदी चढ़ाने की प्रथा प्रचलित थी। महाभारत और रामायण में हंस के समान धवल घरों के वर्णन मिलते हैं। रोशनदान या खिड़कियाँ बनी होती थीं। हमारे पुराने साहित्य में खिड़की के लिये 'वातायन' शब्द मिलता है। कुछ विशेष आकार के खिड़कियों को 'गवाक्ष' कहा जाता था। ये बैल की आँख की भाँति गोल लगते थे। शौकीन नागरिकों के घरों के भीतर सुख-सिंगार की जो चीजें रखी रहती थीं, उसका बड़ा सुन्दर वर्णन वात्स्यायन ने किया है। लोगों का अन्दाज है कि वे गुप्तकाल के थे जो कि हमारे देश के प्राचीन इतिहास का सुनहला समय माना जाता है। उन्होंने 'कामसूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की, जो अपने समय के नागरिक जीवन का दर्पण है।

उनके अनुसार हर शौकीन नागरिक के घर में एक पलंग होती थी, जिसके ऊपर साफ और कोमल बिछौना बिछा रहता था। मसहरीदार पलंग भी इस्तेमाल में लाये जाते थे। सिरहाने एक तकिया होती थी और पैर की ओर ओढ़ने का एक चादर होता था। पलंग के सिरहाने की ओर पास ही एक छोटी वेदी भी होती थी, जो ऊँचाई में पलंग की ही ऊँचाई के बराबर हुआ करती थी। उस पर इत्र रखने की डिबिया, फूलों की माला और मोम रखने का पात्र, रात को लगाये जाने वाले अनुलेप, पनडब्बा और सुगन्धित चूर्ण की डिब्बी आदि रखे रहते थे। दीवाल पर लकड़ी या हाथी-दाँत की खूँटी होती थी, जिस पर नागरिक की वीणा और फूलों की माला लटकती रहती थी। फर्श पर एक बिछावन भी होता था। वहाँ पर पीकदान रखा रहता था। मनोविनोद के लिये शतरंज या चौपड़ का बोर्ड भी एक अलग चौकी पर रखा रहता था।

घर के हाते के भीतर एक वाटिका भी होती थी जिसमें तरह-तरह के वृक्ष लगे होते थे। हरी साग-सब्जी उगा दी जाती थीं ताकि हरियाली बनी रहे। पेड़ों

की डालों पर पेंग मारने वाली भूला लटकाई जाती थी। आराम करने के लिये उसमें सुन्दर चबूतरे बने रहते थे। घर के भीतर सफाई का पूरा इन्तजाम था। खास तौर पर ढकी नाली का होना जरूरी था, जिससे गन्दगी फैलने की कोई गुंजायश न रह जाय। भीतर की नालियों द्वारा सारा गन्दा पानी और कूड़ा-करकट बह कर सड़क की नालियों में आ जाता था। यह स्वच्छता-व्यवस्था बड़े ही ऊँचे दर्जे की थी। यह इस बात का प्रमाण है कि हमारे कलाकारों का दृष्टिकोण कितना वैज्ञानिक था।

शहर के भीतर सफाई के नियमों की पाबन्दी बड़ी कड़ाई के साथ की जाती थी। पहले इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि नगर के सभी गन्दे नाले खाईं में गिरा दिये जाते थे। मुर्दों को ले जाने के लिये अलग मार्ग हुआ करते थे। केवल निश्चित समय के भीतर ही मुर्दे श्मशान पर ले जाये जाते थे। जो इस कानून को तोड़ने की कोशिश करता था, उसे सख्त सजा दी जाती थी। जहाँ नदी की सुविधा नहीं रहती थी, वहाँ श्मशान-भूमि नगर के बाहर निर्दिष्ट रहती थी। लाश केवल वहीं दफनाई जा सकती थी।

जब आबादी बहुत बढ़ जाती थी, तो नगर को बढ़ाने का सवाल खड़ा होता था। ऐसी हालत में आम तरीका यह था कि सुरक्षा-दीवाल तोड़ दी जाती थी और खाईं को पाट देते थे। इसके बाद बढ़ी हुई जनसंख्या को चारो दिशाओं में आबाद कर नई खाईं और दीवाल बनाते थे। दूसरा तरीका यह था कि नगर के सरहद पर एक छोटा सा दूसरा नगर बसा देते थे। इसे 'शाखानगर' या 'उपनगर' कहा जाता था। जितने लोगों को मूल नगर में जगह नहीं मिलती थी, उनको इस दूसरे छोटे वाले नगर में घर बनाने को स्थान दिया जाता था। बड़े शहरों में, जिनमें आबादी समय-समय पर बढ़ जाती थी, शाखानगर या उपनगर संख्या में एक से अधिक हुआ करते थे। इसको हम आज की भाषा में सीमान्तपुर (सरहदी शहर) कह सकते हैं। मूल नगर के बगल में सीमान्तपुर वैसा ही लगता रहा होगा, जैसे आज इलाहाबाद और उसके सरहद पर स्थित नैनी, फाफामऊ या सुलेमसराय आदि लगते हैं। बम्बई और कलकत्ता आदि बड़े शहरों के सरहद पर तमाम उपनगर (छोटी बस्तियाँ) हैं, जो पुराने शाखानगर की याद दिलाते हैं।

नगर समय-समय पर उजड़ते और फिर नये सिरे से बसाये भी जाते थे। यह तो सुविदित ही है कि यहाँ यवन, शक, कुषाण तथा हूण आदि विदेशियों के हमले हुये। ये नगरों पर घेरा डालते थे और अच्छी से अच्छी चीजों को तहस-नहस करने में उन्हें कोई भी संकोच नहीं था। हूण लोग तो लूट-खसोट और उत्पात के लिये

सारी दुनियाँ में बदनाम थे। इन्होंने बहुत से देशों में एक से एक अच्छे शहरों को नष्ट कर डाला था। आग लगने या बाढ़ आने के कारण भी नगर ध्वस्त होते थे। पांडवों की राजधानी हस्तिनापुर गंगा की बाढ़ द्वारा बहा दी गई थी। नगर के उजड़ने और फिर नये सिरे से उसके आबाद होने का उल्लेख रघुवंश में मिलता है। इसके अनुसार अयोध्या की नगर-देवी कुश के सामने अवतरित हो कहने लगीं—हे राजन्! मेरा एक समय वह था जब कि तुम्हारे पुरखों के प्रताप से मेरी शान-शौकत के सामने कुबेर की अलकापुरी भी फीकी लगती थी। पर, आज तुम्हारे जैसे अखण्ड प्रतापी के रहते भी मेरी हालत शोचनीय हो गई है। कोठे-अटारियों के टूट जाने की वजह से मेरी निवास-भूमि अयोध्या वैसे ही अब उदास लगती है, जैसे सूर्य के डूबते समय बादल आकाश में तितर-बितर दिखाई देने लगते हैं। अड्डों के टूट जाने से यहाँ के मोर अब वृक्षों पर जाकर बैठते हैं और कानों को सुख देने वाले बाजों के न बजने के कारण उन्होंने नाचना हमेशा के लिये बन्द कर दिया है। अब वे उन जंगली मोरों की तरह लगते हैं जिनकी पूँछ वन की आग से जल जाती है। जिन सड़कों पर रात्रि के समय सुन्दर गहनों से सुशोभित पुर-ललनायें अपने प्रेमियों से मिलने के लिए जाती दृष्टिगोचर होती थीं, उन पर अब सियारिने घूमती हैं जिनके मुख से चिल्लाते समय चिनगारियाँ निकलती हैं।

अब इससे अधिक कुछ कहते नहीं बनता। जिन सीढ़ियों पर पहले सुन्दरियाँ अपने महावर लगे लाल पैर रखती चलती थीं, उन्हीं पर मृग मारने वाले बाघ रक्त से सने अपने लाल पैर रखते चलते हैं। नगर की जिन बावलियों का जल पहले जलक्रीड़ा करने वाली सुन्दरियों के हाथ के थपेड़ों से मृदंग के समान गंभीर शब्द करता था, वह आज-कल जंगली भैंसों की सींगों की चोटों से कान फोड़े डालता है। मूर्तियों और चित्रों की हालत तो और भी बुरी है। पत्थर के जिन खंभों पर महिलाओं की सुन्दर आकृतियाँ बनाई गई थीं, अब वे नष्ट हो चुकी हैं। उन स्तम्भों को चन्दन का वृक्ष समझ कर साँप उनसे लिपट गये हैं। उनकी केंचुलें छूट कर उन मूर्तियों से सट गई हैं। उन्हें देखने से लगता है, मानों इन स्त्रियों ने स्तन ढकने के लिये कोई कपड़ा डाल लिया हो। जिन चित्रकारियों में दिखाया गया था कि हाथी कमल के ताल में उतर रहे हैं और हस्तिनियाँ उन्हें सूँड़ से कमल की डण्ठल तोड़ कर दे रही हैं, उन चित्रलिखित हाथियों के मस्तकों को सिंहों ने सच्चे हाथी का मस्तक समझ कर नखों से फाड़ दिया है।

जब मैं समृद्धिशालिनी थी, उन दिनों उद्यान की लताओं को पुर-सुन्दरियाँ धीरे से झुका कर फूल उतारा करती थीं। उन्हीं लताओं को अब उत्पाती बन्दर

झकझोर डालते हैं। जिन नागरिक शालाओं पर कभी मोती की माला के समान शुभ्र चाँदनी चमका करती थी, उन पर अब चाँदनी के पुनः चमकने का कोई सवाल ही नहीं खड़ा होता क्योंकि बहुत दिनों से मरम्मत न होने के कारण कोठों के चूने का रंग काला पड़ गया है और उन पर जहाँ-तहाँ घास उग आई है। अब न तो सरयू के घाटों पर देवताओं के लिये बलि दी जाती है और न स्त्रियों के स्नान करने से उससे अंगराग आदि की गन्ध ही निकलती है। सरयू के तट पर बनी हुई बेंत की झोपड़ियाँ भी सूनी पड़ी रहती हैं। आज-कल अटारियों के झरोखों से न तो रात को दीपकों की किरणें निकलती हैं, न दिन में सुन्दरियों का मुख दिखाई देता है और न कहीं से अगरु का धुआँ ही निकलता है। अब वे झरोखे मकड़ियों के जालों से ढक गये हैं। यह सब देख कर क्लेश का कोई पारावार नहीं है। अतएव अब आप अपनी कुल-राजधानी अयोध्या को दुबारा बसावें। उजड़े हुये नगर का वर्णन विदेशी यात्रियों ने भी किया है। पर विनष्ट पुर का जैसा सजीव निरूपण कालिदास ने रघुवंश में किया है, वह और कहीं भी नहीं मिलता। कपिलवस्तु, हस्तिनापुर, कुशीनगर और राजगृह आदि बहुत से शहर काल की लपेट में आने पर उजड़ चुके थे और उनके खण्डहरों का रूप कुछ वैसा ही लगता रहा होगा जैसा कि उजड़ी अयोध्या का, जिससे हम लोगों का परिचय ऊपर हो चुका है।

कुश ने अयोध्या की नगर-देवी की प्रार्थना को बड़े ही हर्ष के साथ स्वीकार कर लिया। उन्होंने अपनी कुल-राजधानी को नये सिरे से बसाने की प्रतिज्ञा की, जिसके बाद वे अन्तर्द्धान हो गईं। शुभ मुहूर्त में उन्होंने अपनी पुरातन राजधानी अयोध्या की ओर अपने पूरे दल-बल के साथ प्रस्थान किया। कुछ ही दिनों की यात्रा के बाद वे सरयू के किनारे पहुँचे। रघुवंशी राजाओं द्वारा गाड़े हुये सैकड़ों यज्ञ के खूँटे उन्हें तट पर दिखाई पड़े। सरयू के पवित्र शीतल जल से सिक्त ठण्डी हवा ने कुश का स्वागत किया। उन्होंने अपनी सेना को आस-पास के स्थानों में टिका दिया।

वास्तुविद्या के पण्डितों को इकट्ठा कर उन्होंने इस नगर के पुर्ननिर्माण का काम आरम्भ कर दिया। जिस प्रकार इन्द्र की आज्ञा पाने पर आसमान में मँडराते बादल खूब जल बरसा कर निदाघ से तपी पृथ्वी को हरी-भरी कर देते हैं, उसी प्रकार कुश की राजकीय आज्ञा को प्राप्त कर कारीगरों ने अपने यन्त्रों की सहायता से अयोध्या की कायापलट कर दी। नई बाज़ारें चालू की गईं। बिक्री के लिये उनमें सुन्दर वस्तुयें सजा दी गईं। मन्त्रियों के निवास के लिये बहुत से भवन बनवा दिये गये। नये राजमहल की छटा का कुछ पूछना ही न था। पास में मन्त्रियों के रहने

के लिये भी घर बना दिये गये । घुड़सारों में घोड़े बाँध दिये गये । हथसारों के खंभों में हाथी बँधे थे । इस नये निर्माण के कारण अयोध्या अब पहले जैसी सुन्दर लगने लगी । लगता था, मानों विभिन्न आभूषणों से सुशोभित कोई स्त्री खड़ी हो । कुश इस पुरी में समस्त नागरिकों सहित सुखपूर्वक रहने लगे । इस अनुपम आनन्द के सामने उन्हें न तो सुन्दर अप्सराओं से भरे स्वर्ग के स्वामी बनने की इच्छा रह गई और न तो असंख्य रत्नों वाली अलकापुरी की ही । इस वर्णन से आपको स्पष्ट हो गया होगा कि हमारी पुरानी नगर-निर्माण-कला काफी बढ़ी-चढ़ी थी । राजमहल, सड़कें, वाटिका, सरोवर और नागरिक शालायें आदि बहुत सोच-विचार कर बनाई जाती थीं । फल यह हुआ कि भारतीय नगर ईरान, मिस्र, रोम, यूनान और चीन के नगरों से भी अधिक भव्य लगते थे । इसीलिये विदेश से आने वाले सभी यात्रियों ने खुल कर उनकी तारीफ की ।

नगर-परिचय

३

अयोध्या

जब आप अपने पुराने नगरों की ओर विचार दौड़ाते होंगे, तो आपका ध्यान सबसे पहले शायद अयोध्या की ओर ही जाता होगा। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। इससे हमारा आध्यात्मिक लगाव है क्योंकि भगवान् राम की यह कुल-राजधानी थी। बाद में भी समय-समय पर तमाम राजवंशों की राजधानियाँ यहाँ पर स्थापित हुईं। इसीलिये इसका उपनाम 'राजधानी' पड़ गया। हमारे कवियों और लेखकों ने जहाँ कहीं अयोध्या-वर्णन किया है, वहाँ उनकी लेखनी फड़क उठी है। नमूने के लिये वाल्मीकि के अयोध्या-वर्णन को ले सकते हैं। परम्परा के अनुसार वे हमारे आदि कवि थे। इतना बोलता हुआ पुर-निरूपण हमें अन्यत्र कम ही मिलता है। अयोध्या की पुरानी समृद्धि की याद को अमर बनाने के लिये वाल्मीकि का वर्णन पर्याप्त होगा।

उनके अनुसार कोसल नाम का एक जनपद था, जो धन-धान्य से सम्पन्न और पवित्र सरयू के तट पर बसा हुआ था। इसमें अयोध्या नामक एक विख्यात नगरी थी जिसे देखने से लगता था, मानों मनु ने इसका निर्माण स्वयं अपने हाथों द्वारा ही किया हो। इसके इर्द-गिर्द एक चौड़ी और गहरी खाई थी, जिसे शत्रु पार नहीं कर पाते थे। इसी तरह चारो ओर एक ऊँची दीवाल भी थी, जिसकी चोटी पर सैकड़ों शतघ्नियाँ बैठाई गईं थीं। हम पीछे कह आये हैं कि शतघ्नी क्या थी, इसको ठीक बताना कठिन काम है। इस समय केवल इतना ही समझना काफी होगा कि यह कोई विध्वंसकारी शस्त्र था जिसे किले के ऊपर से गिरा कर नीचे की शत्रु-सेना को

तितर-बितर किया जाता रहा होगा। बहुतेरे नगरों के वर्णन के प्रसंग में शतघ्नी का उल्लेख हुआ है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि नगर-सुरक्षा में इसकी उपयोगिता ज्यादे होती होगी।

इस पुर के चतुर्दिक् साल वृक्षों की एक चहारदीवारी भी थी। कोसल से लेकर मगध तक के विशाल भू-भाग में साल-वन बहुतायत में हुआ करते थे। इसीलिये इस हिस्से में जितने भी नगर आबाद थे, वे प्रायः साल-वन से घिरे रहते थे। नगर के चारो ओर जंगल को उगा देना उपयोगी समझा जाता था। खाईं और दीवाल की तरह वन भी नगर-सुरक्षा का एक अमूल्य साधन था। जंगल से घेर कर नगर की जो मोर्चेबन्दी की जाती थी, उसी को हमारे शास्त्रकारों ने 'वन-दुर्ग' कहा है। इससे तात्पर्य उस किले से था जिसके चारो ओर नुकीली झाड़ियाँ, चुभने वाले जंगली काँटे और कटबाँसियाँ आदि उगी हों। किलेबन्दी के इस सिद्धान्त का पालन सुदूर दक्षिण के नगरों में भी होता था।

नगर के भीतर की सड़कें कुशल शिल्पियों द्वारा बनाई गई थीं। वे बड़ी रमणीक तथा लम्बी एवं चौड़ी थीं। उन पर सन्ध्या के समय जल का भरपूर छिड़काव होता था तथा फूल बिखेरे जाते थे। उन पर इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की सवारियाँ सज-धज कर निकलती थीं, जिनका दृश्य नितान्त अनुपम था। इसके भीतर बने हुये भवन कई मंजिलों के थे और देखने में बहुत ही सुन्दर थे। उनके कपाट, तोरण और बन्दनवारों की द्युति विलक्षण थी। गृह-शिखरों पर मंगल-ध्वज लगाये गये थे।

बाज़ारों में तरह-तरह की सुन्दर वस्तुयें विक्रय के लिए सजा दी गई थीं। नाना देशों के सौदागर अपने माल-असबाब के साथ वहाँ आते थे। यह नगरी उनके लिये लाभ-भूमि थी। नागरिकों की करामात ऊँचे दर्जे की थी। उनमें कुछ तो योद्धा थे, जो शब्दवेधी बाण तक चला लेते थे, जिनका लक्ष्य अचूक बैठता था। कुछ महारथी थे, जो वनों में मस्त विचरण करने वाले सिंह, बाघ और शूकरों को तीखे अस्त्रों से आक्रान्त कर देते थे। नगर में वेश्यायें, नाटक खेलने वाले कलाकार, दिल-बहलाव करने वाले इन्द्रजालिक, रघुवंशियों के अधीन सामन्त, सूत, मागध और शिल्पी निवास करते थे।

वहाँ के नागरिक शान्तिप्रिय और एक दूसरे से मिल-जुल कर रहने वाले थे। बुद्धिजीवी ब्राह्मण वेद के पाठ में रत, जितेन्द्रिय, दानसंलग्न एवं स्वाध्यायी थे। प्रायः सभी अयोध्यावासी धर्मशील, सुसंयत तथा महर्षियों के तुल्य अमलात्मा थे। वे राजभक्ति, सत्य और अतिथिसेवा आदि सद्गुणों में विश्वास रखते थे।

महातेजस्वी दशरथ इन नागरिकों के बीच उसी प्रकार सुशोभित थे, जिस प्रकार नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा सुशोभित होता है। नगर में मंगल-सूचक दुन्दुभी, मृदंग और वीणा आदि बाजे सर्वदा बजते रहते थे। विभिन्न पुरभागों में काफी चहल-पहल थी और बस्ती बहुत ही सघन थी। कहीं से भी अवकाश नहीं था। इस पुरी में इक्ष्वाकु-वंशी राजे उसी प्रकार राज्य करते थे, जिस प्रकार स्वर्गलोक में इन्द्र।

हमारे देश में सात मोक्षदायिका पुरियाँ मानी जाती थीं, जिनमें अयोध्या का नाम सबसे पहले आता था। धार्मिक पुरी के रूप में इसकी ख्याति के कारणों को खोज निकालना कुछ दुष्कर नहीं है। पवित्र सरयू के तट पर स्थित होने के अतिरिक्त इक्ष्वाकु-राजाओं की कृतियों से यह सम्बन्धित भी थी। भगवान् राम की जीवन-लीला से इसका सम्बन्ध एक सुविख्यात भारतीय परम्परा है। इसीलिये 'इक्ष्वाकुभूमि' या 'रामपुरी' इसके उपनाम पड़ गये थे। इसके धार्मिक वातावरण को देखकर लगता था, मानों वेद और यज्ञ मूर्तिमान हो उठे हों। सरयू के घाट पवित्र माने जाते थे। वहाँ स्नान करने वालों की जमघट लग जाती थी। हमारे देश के नाना भागों से पुण्यार्जन के निमित लोग वहाँ आये। काश्मीरी कवि बिल्हण इनमें से एक था। उसके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम विक्रमांकदेवचरित है, जो एक ऐतिहासिक रचना मानी जाती है। बाद में वह काश्मीर को छोड़कर पर्यटन करता हुआ दक्षिणी भारत में चालुक्यों की राजधानी कल्याण चला आया था। उसका शेष जीवन वहीं पर व्यतीत हुआ।

अयोध्या के साथ समय-समय पर तमाम राजवंशों का सम्बन्ध रहा, जिनकी कृतियों का वर्णन एक लम्बी गाथा होगी। एक से एक घटनायें यहाँ पर घटीं, जो इतिहास और संस्कृति की दृष्टि से महत्त्व से भरी थीं। पुष्यमित्र शुंग ने यहाँ पर दो अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था। वह वैदिक धर्म का प्रकाण्ड उन्नायक तथा कला एवं संस्कृति का प्रेमी भी था। लोगों का अनुमान है कि यवनों के ऊपर अपनी शानदार विजयों के उपलक्ष में उसने इनका सम्पादन किया था। इन यज्ञों में से एक में पतंजलि ने प्रधानाचार्य का काम किया था। उन्होंने महाभाष्य नामक ग्रन्थ लिखा, जो पाणिनि की सुप्रसिद्ध रचना अष्टाध्यायी पर टीका के रूप में है।

यह पुरी साधु-सन्तों की खान थी। वहाँ के विभिन्न धर्मानुयायियों में किसी प्रकार की सांप्रदायिक शत्रुता नहीं थी। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन मतावलम्बी मिल-जुल कर रहते थे तथा इन धर्मों से सम्बन्धित मन्दिर वहाँ बहुसंख्या में मौजूद थे। भारतीय परम्परा के अनुसार गौतम बुद्ध अयोध्या कई बार आ चुके थे और वहाँ के नागरिक उनके भक्त थे। उनके विश्राम की सुविधा के लिये नगर के अत्यन्त समीप

शान्तिमय वातावरण में उन्होंने एक छोटा सा मठ बनवा दिया था जो कि पवित्र स्थान समझा जाता था। वहाँ का प्रसेनजित नाम का शासक उनका समकालीन था, जो बाद में उनका शिष्य भी बन गया था। जब गौतम बुद्ध की मृत्यु हुई, तो इसकी सूचना पाते ही अपने दल-बल के साथ वह कुशीनगर पहुँचा। कोसल के साथ गौतम बुद्ध का जो सहज स्नेह था, उसके आधार पर उसने उनकी अस्थियों के ऊपर अपना दावा पेश किया। बाद में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सभी राजाओं में, जो उनके पक्के चेले थे, अस्थियाँ बाँट दी गईं। एक हिस्सा प्रसेनजित को भी मिला, जिसके ऊपर उसने एक शानदार स्तूप बनवाया।

गुप्त नरेशों के समय में चीनी यात्री फाहियान वहाँ आया। वह लिखता है कि ब्राह्मण, बौद्ध और सभी धर्मों के अनुयायी वहाँ रहते थे और उनका आपसी सम्बन्ध प्रेम-पूर्ण था। भारतीय सांस्कृतिक केन्द्रों का पर्यटन करता हुआ हुयेनसांग भी वहाँ आया था। उसके अनुसार वहाँ वसुबन्धु नामक एक प्रकाण्ड बौद्ध आचार्य रहते थे, जिनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली थी। अयोध्या के राजा विक्रमादित्य के पुत्र बालादित्य ने वसुबन्धु से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म को अपना लिया था। जिस मठ में रह कर इस आचार्य ने विविध ग्रन्थों की रचना की थी, वह हुयेनसांग के आगमन के समय वर्तमान था। वहाँ पर कई स्तूपों के होने का उसने उल्लेख किया है। इनमें से एक अशोक द्वारा बनवाया गया था, जो कि नदी के समीप ही था। परम्परा के अनुसार इसमें गौतम बुद्ध की अस्थियाँ सुरक्षित थीं। यहाँ पर दर्शकों और पूजा करने वालों की भीड़ लगी रहती थी। संस्कृति के हर क्षेत्र में इस नगर का एक विशेष महत्त्व था। आज की अयोध्या अपने उसी पुरातन वैभव एवं समृद्धि की मधुर स्मृति को सँजोये सरयू-तट पर खड़ी हमारे अभ्यन्तर को आकर्षित कर लेती है।

मथुरा

भगवान् राम के प्रसंग में हमारा ध्यान अगर अयोध्या की ओर जाता है, तो कृष्ण के सन्दर्भ में मथुरा की ओर। भारतीय परम्परा के अनुसार कंस ने उनके माँ-बाप को यहीं बन्दीगृह में डाल रखा था। मथुरा में कृष्ण-जन्म से लेकर कंस-वध तक की कथा को भला कौन भारतवासी नहीं जानता। उनके द्वारा इस पुर में कालिया-नाग का दमन और इसी तरह पिशाच-पिशाचिनियों के संहार आदि का वर्णन भारतीय साहित्य में रोचक ढंग से हुआ है। कुशल कलाकार इन घटनाओं से सम्बन्धित मूर्तियों को बारीकी के साथ गढ़ते थे, क्योंकि जनता में उनकी माँग थी। मथुरा से

संबंधित कृष्ण-लीलाओं ने इसके प्रति जनता की निष्ठा को द्विगुणित किया। पुराणों में इसे मोक्षदायिका पुरी कहा गया है। विदेशी लेखक टालमी ने इसे देवताओं का नगर कहा है। मेगस्थनीज़ लिखता है कि मथुरा के लोग 'हेरेक्लीज़' की पूजा करते थे। स्पष्ट है कि इससे तात्पर्य 'हरिकृष्ण' अर्थात् कृष्ण की पूजा से है।

भारतीय परम्परा के अनुसार इस नगर के स्थान पर पहले एक वन (मधुवन) था, जिसमें मधु नामक उत्पाती राक्षस रहता था। राम के अनुज शत्रुघ्न ने इस दैत्य का विनाश किया और मधुवन को काटकर इस नगर को बसाया था। इसलिये यह 'मधुरा' या 'मधुपुरी' भी कहा जाता था। विदेशी लेखकों ने मथुरा को ही 'मेथेरा' कहा है। लगता है कि जब यह नया-नया बसा, उस समय इसकी हालत बहुत अच्छी नहीं थी। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर-निकाय में कहा गया है कि नगर के भीतर कभी-कभी जंगली जानवर चले आते थे। उसकी सड़कें समतल नहीं थीं और उन पर बराबर धूल जमी रहती थी। बाद में धीरे-धीरे ये दोष हट गये और यह एक रम्य नगर बन गया।

इसका सबसे सुन्दर वर्णन हरिवंश में मिलता है। इसके अनुसार यमुना-तट पर स्थित यह नगर अर्द्धचन्द्राकार था। इसके चारो ओर गहरी खाई और ऊँची दीवाल थी। सुन्दर महलों तथा रमणीक उपवन एवं सरोवरों से इसकी शोभा निखर उठती थी। हाथी, रथ एवं घोड़ों से सड़कों पर बराबर चहल-पहल बनी रहती थी। नागरिक पुरुषार्थी, सम्पन्न और प्रसन्नचित्त थे। यहाँ पर सुन्दर बाज़ारें लगती थीं तथा यह पुरी धनधान्य से सम्पन्न थी। इसकी छटा को देखने से लगता था, मानों चौड़े नेत्रों वाली किसी वनिता ने चारो ओर से अपने अंगों को सिकोड़ लिया हो।

मथुरा का वर्णन पुराणों में भी हुआ है। उनके अनुसार भी यह विशाल, सम्पन्न एवं जनाकीर्ण था। वराह पुराण में कहा गया है कि मथुरा में जो लोग पवित्र विचार से रहते हैं, वे मनुष्य के रूप में साक्षात् देवता हैं। इस पापहारिणी पुरी में रहने से लोग आवागमन के बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में इसकी परिखा, प्राकार, सरोवर, उद्यान, राजमार्ग और वरांगनाओं का उल्लेख मिलता है। इसकी रमणीयता को देखकर लगता था, मानों स्वयं विश्वकर्मा ने ही इसका निर्माण किया हो। पुराणों में मथुरा के विश्रान्तिघाट (विश्रामघाट) का उल्लेख मिलता है। इनके अनुसार कंस का दमन कर कृष्ण ने यहीं पर विश्राम किया था। वहाँ श्राद्ध का फल विशेष माना जाता था। वराह पुराण के अनुसार जो वहाँ श्राद्ध देते हैं, उनके पितर हमेशा के लिये तर जाते हैं।

वहाँ के नागरिकों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन उच्च कोटि का था। पतंजलि ने तो यहाँ तक लिखा है कि मथुरा के रहने वाले पाटलिपुत्र के नागरिकों से भी अधिक शिष्ट थे। चीनी यात्री फाहियान भी लिखता है कि वहाँ के निवासी सभ्य एवं समृद्ध थे। हुयेनसांग के अनुसार मथुरा के पुरवासी गुणग्राही, विद्वत्ता का आदर करने वाले और अतिथि-परायण थे। उनकी शिष्टता, वेशभूषा, बात, व्यवहार एवं चरित्र-संगठन से वह बहुत ही प्रभावित हुआ। वहाँ विशेष रूप से सूत के कपड़े अच्छे बनते थे। मठों में रहने वाले भिक्षु पुण्यात्मा, संयमी, शान्त और मितभाषी थे। नगर का घेरा चार मील के लगभग था।

इस नगर में बौद्धधर्म के प्रचार का कारण यह था कि वहाँ गौतम बुद्ध कई बार आ चुके थे। उन्होंने महत्त्वपूर्ण विषयों पर समय-समय पर अमूल्य भाषण दिये, जिससे प्रभावित होकर लोगों ने बहुसंख्या में बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। बुद्ध के प्रिय एवं मेधावी शिष्य महाकच्चायन की यह निवास-भूमि थी। इस कारण भी बौद्ध मतावलंबियों की श्रद्धा इस नगर के प्रति विशेष रहा करती थी। मथुरा से गुप्त-काल का एक प्राचीन लेख मिला है, जिसके अनुसार वहाँ शिवभक्तों की बहुलता थी। उस समय वहाँ शैवों का माहेश्वर नामक एक विशेष सम्प्रदाय था, जिसका जन्मदाता कुशिक नाम का आचार्य था। बाद में इस सम्प्रदाय के कई और भी आचार्य हुये। इस धर्म के अनुयायियों ने वहाँ गुरु-मन्दिर की स्थापना की थी, जिसमें आचार्यों की प्रतिमायें स्थापित की जाती थीं। इस नगर का सबसे प्रधान व्यवसाय मूर्ति-निर्माण था। मथुरा की बनी मूर्तियाँ विशेष रूप से गंगा की घाटी के नगरों में काफी लोकप्रिय थीं।

इस नगर पर समय-समय पर बाहरी हमले भी हुये। सबसे पहले इस पर यवनों ने घेरा डाला। इसका उल्लेख युग-पुराण में भी हुआ है। इस उपद्रवी यवन-आक्रमण ने नागरिकों में खलबली मचा दी। अशोक के वंशज इसे रोकने में असफल सिद्ध हुये। बाद में जब गंगा की तरहटी में ये और आगे बढ़े, उस समय पुष्यमित्र शुंग ने इन्हें हरा कर इस पुर को विदेशी शिकंजे से उन्मुक्त किया और उस विजय के उपलक्ष में उसने एक अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान भी किया। कुछ समय पश्चात् बारी-बारी से शकों एवं कुषाणों ने यहाँ राज्य किया। उनके लेख और सिक्के मिले हैं। जल्दी ही स्थानीय धर्म और रीति-प्रथाओं को उन्होंने अपनाया और सांस्कृतिक दृष्टि से वे भारतीय बन गये। यहाँ पर यह उल्लेख आवश्यक हो जाता है कि आज की मथुरा अपने पुराने स्थान पर नहीं स्थित है। यहाँ से पाँच मील दूर दक्षिण-पश्चिम में महोली नामक एक जगह है, जहाँ पर ऊँचे टीले दिखाई देते हैं। मथुरा का प्राचीन

नगर इसी स्थान पर बसा हुआ था। आज के खण्डहर उसके अतीत गौरव का हमें स्मरण दिलाते हैं। आज भी मथुरा को हमारे देश के निवासी उसी आदर और श्रद्धा से देखते हैं, जैसा कि पहले।

द्वारका

कृष्ण की लीला-भूमि मथुरा पर विचार करने के उपरान्त हमारा ध्यान द्वारका की ओर बरबस आकृष्ट हो जाता है। अब तक आप लोगों को ऐसी पुरियों से परिचित कराया गया, जो नदियों के किनारे स्थित थीं। द्वारका एक ऐसा नगर था, जो समुद्र के तट पर बसा हुआ था। इससे तो शायद आपकी जानकारी होगी ही, कि हमारी परम्परा के अनुसार इसकी स्थापना श्रीकृष्ण ने की थी। हरिवंश में वर्णन मिलता है कि इस नगर की योजना पहले उन्होंने स्वयं बनाई थी। विश्वकर्मा ने सुझाव रखा कि अगर इस योजना के अनुसार नगर बसाया जाता है तो वह पुर-वासियों के लिये छोटा पड़ेगा। इससे दूने पैमाने के आधार पर एक बड़ा नगर बनाना आगे की आवश्यकताओं को देखते हुये ठीक पड़ेगा। यद्यपि यह सुझाव वास्तुविद्या-विशारद का था, तथापि श्रीकृष्ण ने उसे ठुकरा दिया। जब नगर बन गया, तो विश्वकर्मा की ही बात सही निकली। सभी लोगों का उसमें अटना कठिन हो गया और द्वारका के विस्तार का प्रश्न सामने आ गया।

कृष्ण ने अपनी इस भूल पर पश्चाताप प्रकट किया और विश्वकर्मा को अनुरोधपूर्वक बुलाया। उन्हें एक बड़ा नगर अपने हिसाब से बनाने की स्वतंत्रता दी गई। आज्ञा पाते ही चतुर कारीगरों को लेकर बड़े पैमाने पर उन्होंने निर्माण-कार्य प्रारम्भ कर दिया। नगर की लम्बाई और चौड़ाई पहले की समता में दूनी रखी गई। जहाँ पहली योजना में केवल चार ही राजमार्ग थे, वहाँ नई योजना में आठ। इस नव-निर्मित पुरी में चत्वरों की संख्या १६ थी। इस प्रकार पुर के अधिक विस्तृत हो जाने पर लोग फैल कर सुखपूर्वक रहने लगे।

इसके चारो ओर एक ऊँचा परकोटा था, जो श्वेत वर्ण का था। चतुर्दिक् एक गहरी खाईं भी थी, जिसमें कमल खिले थे तथा हंस एवं कारण्डव आदि तैर रहे थे। इसके श्रेष्ठ उत्तुंग प्रासादों पर झंडे फहरा रहे थे। वे संगीत की मधुर ध्वनि से गूँज उठते थे। इन भवनों की चोटियाँ अमृत के फेन के तुल्य धवल थीं। इनके द्वारा द्वारका पुरी उसी तरह सुशोभित थी, जिस प्रकार सफेद बादलों द्वारा आकाश-मण्डल। जनसंख्या की विशालता के कारण नगर के भीतर कोलाहल मचा रहता था।

पुर के भीतर सरोवर सुशोभित थे, जिनके किनारे वृक्ष लगाये गये थे। उनके जल में कमल खिले थे और राजहंस तैरते रहते थे, जिससे पुर की छटा और भी बढ़ जाती थी। समुद्र के जलकणों से सिक्त होने के कारण वहाँ की शीतल वायु नागरिकों को आह्लादित कर देती थी। पुरवासी सभ्य एवं कलाविद् थे। उनसे वह पुरी वैसे ही रमणीय प्रतीत हो रही थी, जैसे तारों से खचित आकाश।

इस पुर का वर्णन अन्यत्र महाकाव्यों और पुराणों में भी हुआ है। उनके शब्द-चित्रण में इसके ठाट-बाट की एक मधुर झाँकी मिलती है। संस्कृत का प्रसिद्ध कवि माघ अपने ढंग का एक निराला ही कवि था। उसने काव्य-रचना की एक नवीन परिपाटी चलाई थी। उसका शिशुपाल-वध नामक महाकाव्य साहित्य की एक अनूठी निधि है। लगता है कि वह किसी समय द्वारका आया हुआ था, जिसके फल-स्वरूप पुर-शोभा का फड़कता हुआ वर्णन करने के लिये उसका कवि-हृदय प्रेरित हो उठा। उसके अनुसार यह समुद्रतटिनी पुरी उस सुरूपा रमणी के तुल्य लगती थी, जो श्रृंगार की विविध सामग्री और अपने अनूठे हाव-भाव के साथ सुशोभित हो। समुद्र की ऊँची लहरें बड़े ही गर्व के साथ नगर की दीवाल की ऊँचाई को जीतने के लिये दूर तक उठ आती थीं, पर अभीष्ट को न पाने के कारण लज्जित हो वे वहीं विलीन हो जाती थीं। बाज़ारों में ढेरी के रूप में विक्रय की विविध सामग्रियाँ सजा दी गई थीं। नगर के भीतर सुरवधुओं के तुल्य सुन्दर रमणियाँ झरोखों और अटारियों पर बैठ कर बिहार करती थीं। समुद्र के स्वच्छ जल में नगर की निराली छटा का प्रतिबिम्ब वैसे ही सुशोभित था, जैसे किसी दर्पण में मृगलोचनी के चन्द्रवदन की अनुपम छाया।

यह पुरी सात मोक्षदायिका पुरियों में एक थी। कृष्णपुरी होने के नाते राजा और रंक सबको ही इसने आकर्षित किया। समय-समय पर एक से एक पुण्यात्मा मार्ग की घोर यातनाओं को सहते हुये वहाँ आये और उसके दर्शन से उन्होंने अपने को कृतार्थ पाया। पुराणों में इसके धार्मिक माहात्म्य की गाथा गाई गई है। वराह पुराण के अनुसार यह पुरी धर्मार्थियों के सुख को संवर्द्धित करती थी। गरुड़ पुराण में कहा गया है कि द्वारकावासी आध्यात्मिक और भौतिक विविध ऐश्वर्यों को प्राप्त करता हुआ आवागमन के शिकंजों से मुक्त हो जाता है। यह पुरी हमारी एक शाश्वत नगरी है, जो कि अपनी गौरवमय श्रद्धेय परम्पराओं के कारण हम भारतवासियों को एकता के सूत्र में दृढ़बद्ध किये है।

इन्द्रप्रस्थ

द्वारका के समकालीन नगर इन्द्रप्रस्थ का नाम हममें से किसने न सुना होगा। पाण्डवों की गाथा के साथ-साथ इस नगर की गाथा भी अमर रहेगी। हम पहले इस बात को कह आये हैं कि हमारे कई नगर जंगलों को काट कर बनाये गये थे। इन्द्रप्रस्थ भी इसी कोटि के नगरों में आता था। अपने वैभव एवं समृद्धि की दृष्टि से यह मथुरा और द्वारका के ही टक्कर का था। पहले इस स्थान पर एक वन था, जिसे महाभारत में खांडवप्रस्थ कहा गया है। पाण्डवों ने इसे काट कर इन्द्रप्रस्थ की स्थापना की थी। नगर-जीवन के क्षेत्र में यह विकास का काल था। नदी, पर्वत् और सागर के किनारे अनुकूल जगह को चुनकर इस समय नये नगर बसाये जा रहे थे।

इस पुर का सबसे रोचक वर्णन महाभारत में मिलता है। इसके अनुसार यह कई सुन्दर परिखाओं (खाइयों) द्वारा परिवेष्ठित था, जो अपनी विशालता के कारण लहलहाते सागर की याद दिलाती थीं। इस नगर के चतुर्दिक् उच्च प्राकार भी था, जिसमें सुन्दर बुर्ज और दरवाज़े यथास्थान खोले गये थे। पुर की सुरक्षा की दृष्टि से प्राकार की चोटी पर विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्र पहले से ही इकट्ठा कर लिये गये थे। वहाँ के सरोवरों का जल खिले हुये कमलों के द्वारा सुगन्धित हो रहा था। स्थान-स्थान पर रमणीक उपवन भी थे, जो फल-पुष्प के सौरभ से आह्लादित कर देते थे। पुर के भीतर विभिन्न भागों में चित्ताकर्षक चित्रशालायें बनी थीं। खाईं के जल में हंस, कारण्डव तथा चक्रवाक आदि पक्षी तैरते रहते थे और उनसे पुर की छटा अन्वेक्षणीय थी।

नागरिक विद्या-विनय से सम्पन्न, सभ्य और धर्मपरायण थे। उनमें से कुछ ऐसे थे, जो कई भाषाओं को बोल लेते थे, कुछ कई तरह के शिल्पों पर अधिकार रखते थे। धनप्राप्ति की इच्छा से वहाँ पर विभिन्न दिशाओं के वणिक आते थे। विभिन्न पुर-भागों में धवल तथा उत्तुंग भवन सुशोभित थे। अपनी विलक्षण शोभा द्वारा यह नगर अमरावती की छटा का स्मरण दिला रहा था। महाभारत में आने वाला यह इन्द्रप्रस्थ-वर्णन इस पुर का सर्वोत्तम निरूपण है। यह उसके पुराने ठाट-बाट और ऐश्वर्य को चिरस्मरणीय बनाने के लिये पर्याप्त होगा।

हस्तिनापुर

महाभारतकालीन महानगरों की श्रेणी में हस्तिनापुर भी आता था। इसकी स्थापना 'हस्तिन् नामक व्यक्ति द्वारा की गई थी। इसीलिये इसे हस्तिनापुर

भी कहा जाता था। महाभारत में इस नगर का भी खुला वर्णन मिलता है। इसके अनुसार विभिन्न शस्त्रों द्वारा सुरक्षित होने के कारण इस पुर के भीतर शत्रुओं का प्रवेश दुष्कर था। नगर के परकोटे में बने गोपुर (दरवाज़े) ऊँचे थे। नगर का भीतरी भाग राजमार्गों द्वारा विभक्त था। सड़कों के दोनों किनारे महल और बाज़ारें सुशोभित थीं। राजमहल नगर के बीच में स्थित था। इसमें अनेक सरोवर और उद्यान थे। नागरिक धर्मनिरत, होमपरायण, यज्ञादि में श्रद्धा रखने वाले, वर्णाश्रम-व्यवस्था के पोषक और धन-धान्य से सम्पन्न थे। सूत-मागध और बन्दी अपने-अपने कर्म में निरत थे। इनके द्वारा नगर की शोभा इतनी बढ़ गई थी कि वह इन्द्रलोक के समान सुन्दर लगता था। पुराणों में कहा गया है कि जब गंगा की बाढ़ के कारण यह पुर विनष्ट हो गया, उस समय पाण्डव हस्तिनापुर को छोड़ कर कौशाम्बी चले आये थे।

यह घटना झूठी नहीं मानी जा सकती। हस्तिनापुर और कौशाम्बी में जो खुदाइयाँ हाल में हुई हैं, उनसे इसकी पुष्टि हो चुकी है। अब विद्वान् इस बात को मानने लगे हैं कि गंगा की बाढ़ ने हस्तिनापुर को सचमुच ही किसी समय बहा दिया था। कौशाम्बी के कुछ प्राचीन बर्तन बनावट में हस्तिनापुर के बर्तनों के तुल्य हैं। इससे प्रमाणित होता है कि गंगा की बाढ़ के कारण पाण्डव हस्तिनापुर को छोड़ कर कौशाम्बी में बस गये थे। हस्तिनापुर की आधुनिक खुदाइयों ने वहाँ की प्राचीन कला और संस्कृति पर प्रकाश डाला है। वहाँ के नागरिक अपने बर्तनों पर भूरे रंग की पालिश चढ़ाते थे। यह प्रथा मथुरा, इन्द्रप्रस्थ तथा महाभारतकालीन अन्य नगरों में भी प्रचलित थी। इससे सिद्ध होता है कि उनका सामाजिक जीवन एकाकी नहीं था। वे एक दूसरे से कोई बहुत दूर भी नहीं थे। जलमार्ग से एक दूसरे से वे लगे हुये थे, अतएव इन महापुरियों के निवासियों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध कोई अनहोनी बात नहीं मानी जा सकती।

कौशाम्बी

यह नगर कुछ कम प्राचीन नहीं था। इसका उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। महाभारत तथा रामायण के अनुसार इसकी नींव कुशाम्ब नामक राजा ने डाली थी। प्रायः नगरों के नाम, बसाने वाले के नाम के आधार पर पड़ जाया करते थे। कौशाम्बी का भी नाम इसी सिद्धान्त पर पड़ा था। अभी ऊपर चर्चा की जा चुकी है कि गंगा की बाढ़ द्वारा हस्तिनापुर नगर बहा दिया गया था। उस समय निचक्षु जो कि अर्जुन के पौत्र परीक्षित का पाँचवाँ वंशज था, कौशाम्बी चला आया। इसी राजा की सतरहवीं पीढ़ी में उदयन उत्पन्न हुआ, जिसकी कृतियों से भला कौन

नहीं परिचित होगा। उसका नाम भारतीय इतिहास, कथा और आख्यायिकाओं में अमर है। परम्परा के अनुसार उज्जयिनी के राजा प्रद्योत द्वारा हरा कर वह बन्दी बना दिया गया। वह संगीत का मर्मज्ञ था। वहीं उस राजा की प्रिय दुहिता वासवदत्ता को वह वीणा सिखाता था। कुछ ही समय में राजकुमारी से उसका प्रेम हो गया और वह उसे उज्जयिनी से लेकर कौशाम्बी भाग आया। दोनों की प्रणय-कथा को लोग बड़े चाव से सुनते और सुनाते थे। इसी को 'उदयन-कथा' कहा जाता था। इस पर साहित्य भी लिखा गया जिसमें सबसे प्रसिद्ध 'स्वप्नवासवदत्तम्' नाम का संस्कृत नाटक है, जिसकी रचना महाकवि भास ने की थी। पुरानी कला में तमाम ऐसे नमूने मिलते हैं जहाँ उदयन, वासवदत्ता को लेकर प्रद्योत के रोष से बचने के लिये हाथी या घोड़े की पीठ पर सवार तेजी से भागता दिखाया गया है। इस तरह के खिलौने या मूर्तियों के लोग बड़े शौकीन थे और इसलिये उनकी माँग बहुतायत में थी।

यह नगर जो कि यमुना के किनारे स्थित था, उदयन के समय में बड़ा ही प्रसिद्ध था। उस समय के सबसे सुप्रसिद्ध नगरों में इसकी गणना की जाती थी। भारत का सबसे बड़ा तिजारती केन्द्र यही था। वहाँ विदेशों के भी सौदागर आते थे। कौशाम्बी के एक प्राचीन पत्थर के खंभे पर दो डील वाले ऊँट की आकृति दिखाई गई है। इस तरह के ऊँट बैक्ट्रिआ (बल्ख) में मिलते थे। इससे लगता है कि हिन्दुकुश की सीमा के बाहर पश्चिमी देशों के साथ इस नगर का वाणिज्य-सम्बन्ध था। व्यापारिक महत्त्व के कारण ही इसे 'पत्तन' कहा जाता था। 'पत्तन' से तात्पर्य किसी बड़े बन्दरगाह या व्यापारिक नगर से था। उदयन गौतम बुद्ध का समकालीन था। उस समय के राजमंडल में वह एक प्रतापी नरेश समझा जाता था।

वह पहले बौद्धधर्म का कट्टर विरोधी था। इस सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थों में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। उस समय धार्मिक जगत् में आचार्य पिण्डोल की ऊँची प्रतिष्ठा थी। वे किसी समय कौशाम्बी में अपना सदुपदेश दे रहे थे। इस अवसर पर उदयन प्रगाढ़ निद्रा में मग्न था। राजकुल की महिलायें इसका लाभ उठा कर आचार्य के व्याख्यान को सुनने के लिये निकल पड़ीं। जब उदयन को यह ज्ञात हुआ, फिर तो उसके क्रोध का कोई पारावार नहीं था। आचार्य के साथ वह बड़ी सख्ती के साथ पेश आया। इस तरह की एक कथा बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में भी आती है। इसके अनुसार उदयन की सामावती नामक भार्या का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर बढ़ने लगा। उसने उसे ऐसा करने से रोका, पर इसका कोई असर न रहा। इस पर वह एक

समय इतना आग-बबूला हुआ कि उसने सामावती के पूरे शिविर को ही जलवा दिया। रानी अपनी सेविकाओं सहित उसमें खाक हो उठी।

इसी तरह किसी बौद्ध भिक्षु से अप्रसन्न होकर वह उसे मरवा डालना चाहता था। वह अपनी प्राण-रक्षा के लिये राजा के कर्मचारियों की दृष्टि को बचाता हुआ श्रावस्ती भाग आया। एक बौद्ध कथा के अनुसार गौतम बुद्ध किसी समय वाराणसी से कौशाम्बी आये। उस समय उदयन किसी आक्रमण की तैयारी में पुर-द्वार से बाहर निकल रहा था। शान्ति के इस अग्रदूत को देखते ही वह क्रोधांध हो उठा। वह समझता था कि अहिंसा का वह पुजारी उसे हमला करने से रोकेगा। उसने बिना कुछ और अधिक सोच-विचार किये ही गौतम को मारने के लिये बाण चला दिया, पर उनके अलौकिक व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण उसकी दिशा बदल गई और वायु-मंडल को चीरता हुआ वह अदृश्य हो गया। उदयन के इर्दगिर्द का वातावरण हिंसानिरोध की भावना से आक्रान्त हो उठा। इस घटना ने उसकी जीवनधारा बदल दी। वह गौतम के प्रति विनम्रता के कारण अवनत हो उठा और तत्काल उनके मत का पक्का अनुयायी बन गया। इन बौद्ध कथाओं में सच्चाई की मात्रा कितनी है, इस विषय में कुछ कहना कठिन है। बौद्ध ग्रन्थों के लेखक अपने धर्म के अनुयायी प्रायः सभी राजाओं को बौद्ध मतावलंबी होने के पहले अत्याचारी एवं घोर हिंसक के रूप में निरूपित करते हैं। उदयन प्रारम्भ में क्रूर और विधर्मी था या नहीं, इस विषय में वास्तविकता जो कुछ भी रही हो, पर इतना तो सही लगता है कि बाद में चल कर गौतम के विलक्षण व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वह उनका शिष्य बन गया था।

इस घटना के अनन्तर नागरिकों में अधिकांश बुद्ध के भक्त बन गये। उनके उपदेशों ने अर्थवान और दरिद्र दोनों को ही समान रूप से प्रभावित किया। वहाँ के घोषित नाम के एक पूँजीपति ने उनके विश्राम की सुविधा के लिये घोषिताराम नामक एक मठ बनवाया, जिसके भग्नावशेष कौशाम्बी की खुदाइयों में उपलब्ध हुये हैं जो कि भिक्षु-संघ के धार्मिक जीवन पर प्रकाश डालते हैं।

अशोक के समय में वहाँ इस नाम के प्रान्त की राजधानी थी। उसने वहाँ दो स्तम्भों को खड़ा किया, जो कि चुनार के बालूदार पत्थर के बने हैं। पहले स्तम्भ के ऊपरी हिस्से में मौर्य-काल की लिपि और पाली भाषा में, जो उस समय की जन-भाषा थी, एक लेख खुदा हुआ है। यह एक राजकीय आज्ञा के स्वरूप में है और कौशाम्बी के 'महामात्र' नामक कर्मचारियों को घोषित किया गया है। इस लेख से लगता है कि इस नगर के भिक्षुओं में कोई धार्मिक विवाद खड़ा हुआ। उपर्युक्त राजाज्ञा

के अनुसार महामात्रों को यह कड़ाई के साथ देखना था कि कोई भी भिक्षु वहाँ के संघ की एकता में भेदभाव डालने की चेष्टा न करे। अगर इस अपराध में भिक्षुसंघ का कोई सदस्य पकड़ा जाय, तो उसे सदस्यता से वंचित कर नगर से बाहर निकाल दिया जाय।

इस लेख से स्पष्ट है कि अशोक भिक्षुसंघ के आन्तरिक झगड़ों को रोक कर एकता लाने में तत्पर था। यह स्तम्भ बहुत बाद मुगलों के काल में कौशाम्बी से हटा कर प्रयाग लाया गया और संगम पर किले के भीतर खड़ा किया गया। यह लाट पहले प्रयाग में नहीं थी, इसके कई प्रमाण हैं। पहली बात विचारणीय यह हो जाती है कि अशोक के उपर्युक्त लेख में कौशाम्बी के कर्मचारियों तथा वहाँ के भिक्षुसंघ की चर्चा है। इससे स्पष्ट है कि यह स्तम्भ प्रारंभ में कौशाम्बी में ही स्थापित किया गया था और प्रयाग कभी बाद में लाया गया होगा। दूसरे यह कि चीनी यात्री हुयेनसांग ने प्रयाग-वर्णन के प्रसंग में गंगा-यमुना नदियों, उनके बीच के रेतीले मैदान तथा अक्षयवट आदि का तो उल्लेख किया है, पर अशोक की किसी लाट के विषय में उसने कोई चर्चा नहीं की है। इस प्रमाण के विरुद्ध आप कह सकते हैं कि शायद चीनी यात्री उसकी चर्चा करना भूल गया हो, पर ऐसी संभावना बहुत ही कम थी। उसने तत्कालीन नगरों में जहाँ कहीं भी अशोक की लाट या स्तूप को देखा, उनका वर्णन बड़ी सावधानी के साथ किया है। इससे यही नतीजा निकलता है कि उस समय यह अशोक-स्तम्भ या अन्य कोई भी स्तंभ प्रयाग में नहीं था। हुयेनसांग के कई सदियों बाद विदेशी यात्री अल्बरूनी भी इस नगर में आया। उसने संगम की चर्चा की है, पर अशोक की किसी लाट के वहाँ होने के विषय में वह मौन है।

अशोक का दूसरा स्तम्भ कौशाम्बी में अब भी मौजूद है। उसका ऊपरी हिस्सा टूट गया है। प्रथम स्तम्भ पर मौर्य-लिपि में एक अन्य लेख भी प्राप्य है जिसके अनुसार अशोक की दूसरी पत्नी कारुवाकी ने पुण्यार्जन के निमित्त बाग-बगीचे लगवाया और मठ तथा दानगृह आदि बनवा दिया। अशोक ने कौशाम्बी में दो स्तम्भ क्यों खड़े किये, यह बात विचारणीय हो जाती है। इसके पीछे कई कारण रहे होंगे। यह बौद्ध धर्म का तीर्थ था और इन स्तम्भों पर इस मत से संबंधित लेख मिलते हैं। उसकी लाटें ऐसे स्थानों से मिली हैं, जहाँ अपने समय में मेला लगता था जिसमें दूर-दूर के लोग इकट्ठे होते थे या जो बड़े केन्द्र थे जिसमें लेखक, व्यापारी, कवि तथा कर्मचारी सभी का आना जाना लगा रहता था। अभिप्राय यह था कि वे उन पर खुदे हुये लेखों को पढ़ें और उसके सन्देश को समझ कर अमल में लाने की

चेष्टा करें। इससे प्रमाणित होता है कि मौर्य-काल में कौशाम्बी की ख्याति उच्च कोटि की थी।

पतंजलि ने महाभाष्य में कौशाम्बी का उल्लेख किया है। इससे लगता है कि साकेत, वाराणसी तथा पाटलिपुत्र आदि नगरों के साथ इसका घनिष्ट सांस्कृतिक संबन्ध था। कुछ समय तक यह नगर कुषाणों के कब्जे में भी था। इस राजवंश के सुप्रसिद्ध नरेश कनिष्क ने दक्षिण-पूर्व विजय-यात्रा के प्रसंग में कौशाम्बी को जीत लिया था। इस स्थान से उसके शासन-काल के दूसरे वर्ष का एक लेख मिला है।

कुषाणों के बाद कौशाम्बी में मघ राजवंश ने राज्य किया। कुषाण-काल की भाँति मघ-काल भी कौशाम्बी के इतिहास में राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से उत्कृष्ट काल था। गुप्तों के काल से इस पुर के बारे में हमारी जानकारी पुनः अधिक हो जाती है। चौथी शताब्दी के पहले हिस्से में प्रतिभाशील प्रतापी राजा समुद्रगुप्त चक्रवर्ती शासक बनने के लिये एक शानदार दिग्विजय कर रहा था। उसके सैनिक अभियान में छोटे-बड़े बहुतेरे राज्य खतम कर दिये गये। इसी समय कौशाम्बी का नगर जीत कर गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया गया। यहाँ पर इस नाम के एक प्रान्त की राजधानी बना दी गई। संभव है कि कोई गुप्तवंशीय राजकुमार ही यहाँ पर राज्यपाल नियुक्त किया गया हो। सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० काशीप्रसाद जायसवाल का तो यहाँ तक कहना है कि उत्तरी भारत में दो प्रसिद्ध लड़ाइयाँ समुद्रगुप्त द्वारा कौशाम्बी में ही लड़ी गईं थीं। विन्ध्य-पर्वतमाला के उत्तर में स्थित विविध राज्यों के शासकों ने अपनी सत्ता को बचाने के लिये इन दोनों युद्धों में भाग लिया था।

इस मत से सहमत होना कठिन है क्योंकि इसके समर्थन के लिये हमारे पास कोई विशेष प्रमाण नहीं है। पर इतना तो सही है कि जब समुद्रगुप्त ने इस नगर को जीता, उस समय भी यह एक प्रसिद्ध केन्द्र था। उस समय अशोक की वह लाट, जो अब इलाहाबाद के किले में मिलती है, कौशाम्बी में ही थी। उस पर अशोक के लेख के नीचे उसने अपना लेख खुदवा दिया। उसकी भाषा संस्कृत है और लिपि गुप्त काल की ब्राह्मी लिपि है। उसका रचयिता हरिषेण नामक सफल कवि था, जो राजा के मन्त्रिमण्डल का परराष्ट्र मन्त्री भी था। इस लेखक की और कोई रचना तो हमें नहीं मिली है, पर प्रयाग का यह स्तम्भ-लेख सफल कवि और गद्यकार के रूप में उसकी कीर्ति को अमर बनाने के लिये पर्याप्त है। इस लेख का प्रारंभिक हिस्सा पद्य, और बाद वाला हिस्सा गद्य में है। यह संस्कृति साहित्य की चंपू शैली

थी, जिसमें गद्य-पद्य का मिश्रण हुआ करता था। लेख की कुछ प्रारंभिक पंक्तियाँ जहाँगीर के समय में नष्ट कर दी गईं। सब मिला कर यह जितना बच गया है, वह इतिहास की दृष्टि से बड़ा ही उपयोगी है। अगर यह लेख न मिला होता, तो यह मानी बात है कि समुद्रगुप्त के जीवन-चरित के विषय में हम लोगों का परिचय बहुत ही कम रह जाता। उस समय के भूगोल, विभिन्न जातियों और राजनीतिक घटनाओं तथा संस्कृति के विभिन्न पहलुओं के ऊपर इसने महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। इसे हम समुद्रगुप्त-प्रशस्ति कह सकते हैं। इतिहास के अतिरिक्त साहित्य की दृष्टि से भी यह ऊँचे दर्जे का है। जहाँ तक काव्य-रचना का प्रश्न है, हरिषेण कविवर कालिदास की मधुर वैदर्भी शैली का स्मरण दिलाता है। इसमें सरल शब्दों एवं मुहावरों के ही प्रयोग हैं। श्लोक गेय हैं। परन्तु गद्य वाले हिस्से में उसकी शैली बदल जाती है। इसमें लम्बे समस्तपद मिलते हैं और यह गद्यांश आलंकारिक तो इतना अधिक हो जाता है कि बाणभट्ट की गौड़ी (कठिन) शैली का यह स्मरण दिलाने लगता है। भला यह कौन जानता था कि किसी दिन साहित्य का इतना ऊँचा आदर्श शिला-खण्ड के ऊपर उत्कीर्ण मिलेगा।

समुद्रगुप्त ने कौशाम्बी में उपर्युक्त स्तम्भ पर अपनी विजयगाथा क्यों उत्कीर्ण कराई, इसका कारण विचारवान पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं। यह नगर उस समय एक प्रसिद्ध केन्द्र रहा होगा, जहाँ आने-जाने वाले लोगों का जमघट रहता था। ऊपर चर्चा की जा चुकी है कि वहाँ पश्चिमी एशियाई मुल्कों के भी सौदागर आते थे। अतएव उसे अपनी कृतियों के प्रचार के लिये कौशाम्बी जैसे सुप्रतिष्ठित नगर के रूप में एक अच्छा-खासा जरिया मिल गया। नगर में रहने वाली और विभिन्न प्रसंगों में बाहर से आने वाली जनता उस लेख को पढ़ती और इस सम्राट् के अलौकिक गुणों से प्रभावित होती होगी।

इस नगर ने समय-समय पर विदेशियों को भी आकर्षित किया। जिज्ञासु चीनी यात्री फाहियान वहाँ आया था। वह लिखता है कि सारनाथ से यह १०४ मील दूर उत्तर-पश्चिम में स्थित था। उस समय वहाँ घोषिताराम का मठ मौजूद था और वह अच्छी हालत में था। उसमें अधिकतर हीनयान धर्म के अनुयायी रहा करते थे। यह यात्री भी गुप्तों के उत्कर्ष-काल में ही वहाँ आया हुआ था। गुप्त-काल के लेखों से लगता है कि उस समय के कौशाम्बी-नागरिक समृद्ध और धर्मपरायण थे। उन्होंने सत्र (दानगृह) खोल रक्खे थे, जहाँ असहाय या साधु-संन्यासियों को भोजन-वस्त्र मिलता था। उस समय कौशाम्बी के राज्यपाल का कार्यालय भी वहाँ

वर्तमान रहा होगा। अन्य कर्मचारी भी वहाँ रहते होंगे और नगर के भीतर काफी चहल-पहल विद्यमान रही होगी।

पर लगता है कि गुप्तों के अधःपतन के बाद कौशाम्बी का नगर धीरे-धीरे उजड़ने लगा था। कुछ तो इसका राजनीतिक कारण था। गुप्तों के बाद कई राजवंशों का उद्गम हुआ। उनकी नई राजधानियाँ बनीं। इससे कौशाम्बी का कोई राजनीतिक महत्त्व नहीं रह गया होगा। राजकीय कार्यालय वहाँ से हटा लिये गये होंगे। इस पर हूणों के हमले भी हुये थे। किसी समय यह पुर हूणराज तोरमाण के आधिपत्य में भी आ गया था। हूण भयंकर तो थे ही। नगरों को तोड़ने और जलाने में इनको कोई हिचक न होती थी। यूरोप के प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन ने रोम-साम्राज्य के भीतर की बस्तियों में इनके द्वारा किये गये उथल-पुथल और बर्बादी का उल्लेख किया है। लगता है कि हूण-आक्रमण के कारण कौशाम्बी को काफी क्षति उठानी पड़ी।

जिस समय सातवीं शताब्दी में हुयेनसांग कौशाम्बी पहुँचा, उस समय इस पुर के अधिकांश विहार ध्वस्त हो चुके थे। वहाँ पर रहने वाले भिक्षुओं की संख्या पहले की समता में थोड़ी थी। उसने नगर के कुछ प्राचीन भवनों का उल्लेख किया है, जो कि खण्डहर को प्राप्त होने लगे थे। इनमें एक बौद्ध मन्दिर था जिसकी ऊँचाई लगभग ६० फीट थी। इसके भीतर गौतम बुद्ध की चन्दन की एक प्रतिमा रक्खी हुई थी, जो महाराज उदयन के समय की थी। घोषिताराम के पूरब की ओर एक आम का बगीचा था, जिसमें एक पुराने घर का खण्डहर दृष्टिगोचर होता था। असंग नाम के बौद्ध आचार्य इसी घर में रहते थे।

कौशाम्बी की पहचान आधुनिक कोसम नामक ग्राम से की जाती है, जो कि यमुना नदी के किनारे प्रयाग से ३० मील की दूरी पर स्थित है। नगर के खण्डहर इस स्थान के आस-पास कई वर्ग मील की जगह घेरे हुये हैं। इन भग्नावशेषों को देखने से लगता है कि यह पुर अर्द्धचन्द्राकार रहा होगा और उसके चारो ओर गहरी खाईं तथा ऊँची दीवाल भी रही होगी जिसमें दरवाज़े और बुर्ज बने होंगे। प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा वहाँ जो खुदाइयाँ हो रही हैं, उन्होंने भारतीय कला और संस्कृति पर नया प्रकाश डाला है। पहले लोगों का विचार था कि हमारे देश में पत्थर की कारीगरी का जन्म यूनानी प्रभाव के कारण हुआ था। पर अब यह मत गलत साबित हो चुका है। वहाँ यमुना के ठीक किनारे एक प्राचीन राजमहल प्रकाश में लाया गया है जिसमें अच्छे गढ़े हुये पत्थरों का प्रयोग मिलता है। उस प्रासाद का प्रथम निर्माण भारत में यवनों के आने के पूर्व ही हो गया था। क्या यह सिद्ध करने

के लिये काफी नहीं है कि प्रस्तर-वास्तु से हमारी जानकारी यवनों से संपर्क स्थापित होने के पहले ही हो चुकी थी? कला-संबन्धी हमारा यह ज्ञान पूर्णतः भारतीय था।

इसी तरह जो लोग कहते हैं कि अशोक की कला अशोक ही के साथ समाप्त हो गई, वे भी भ्रम में हैं। हाल ही में कौशाम्बी में एक कुषाण-कालीन स्तम्भ प्राप्त हुआ है जो कि अशोक के लाट के आदर्श पर बना है। इससे स्पष्ट है कि अशोक की कला ने बाद के कलाकारों को उसी तरह के निर्माण के लिये प्रेरणा प्रदान की। कौशाम्बी की खुदाइयों ने सिद्ध कर दिया है कि सिन्धु घाटी के नगरों के तुल्य गंगा-यमुना घाटी के नगरों में भी किलेबंदी की जाती थी। आज दिन भी वहाँ के प्राचीन प्राकार, राजप्रासाद, मठ एवं अट्टालिकाओं के अवशेष इस नगर के अतीत वैभव की मधुर याद दर्शक को बार-बार दिलाते हैं।

कान्यकुब्ज

यह नगर गंगा के किनारे स्थित था और कौशाम्बी का ही समकालीन था। अभी तक आपको कुछ ऐसे नगरों के दृष्टान्त दिये गये, जिनके नाम पुर को बसाने वाले व्यक्तियों के नाम के आधार पर पड़े थे। कान्यकुब्ज के नाम की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि नगरों के नाम कभी-कभी जनश्रुतियों या मनगढ़न्त लोकपरम्पराओं के आधार पर भी पड़ जाते थे। रामायण में इस नगर के नाम की उत्पत्ति के विषय में जो कथा या किंवदन्ती मिलती है, वह इस प्रकार है—

कुश के कुशनाभ नामक पुत्र हुये जो कि एक प्रतापी राजा थे। उन्होंने इस नगर की नींव डाली। घृताची नाम की एक अप्सरा से उन्हें सौ पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं, जो परम सुन्दरी, यौवन-संपन्ना एवं गुणवती थीं। संगीत और नृत्य पर उनका विलक्षण अधिकार था। किसी समय वे विचरण करती हुई पास के उपवन में आईं। पवनदेव उनके उन्मादक यौवन पर लट्टू हो उठे। उन्होंने प्रगट होकर उनसे विवाह का प्रस्ताव किया। सुनते ही वे हँस पड़ीं और बड़े ही घृणा के भाव में उनके इस प्रस्ताव को उन्होंने ठुकरा दिया। इस प्रकार अपमानित होने के कारण क्रोधावेश में आकर पवनदेव ने उन सुन्दरियों को अभिशाप दिया। फिर तो उन्हें कूबड़ निकल आया। कन्याओं के इस तरह कुब्जत्व (कूबड़-अवस्था) को प्राप्त होने पर इस नगर का नाम कान्यकुब्ज पड़ गया। हुयेनसांग ने भी थोड़े हेर-फेर के साथ इस कथा का उल्लेख अपने विवरण में किया है। इसी का आधुनिक नाम कन्नौज है।

इसका और पुराना नाम कुशस्थल रहा होगा। ऊपर कहा जा चुका है कि इसके संस्थापक कुशनाभ के पिता का नाम कुश था। अतएव यह कुशस्थल (कुश

का स्थान) नाम से प्रसिद्ध हो गया होगा। इसका दूसरा नाम गाधिपुर या गाधिनगर भी था। इस नाम का संबन्ध गाधि नामक राजा के साथ प्रतीत होता है, जो महाभारत और पुराणों के अनुसार एक प्रतापी सम्राट् थे।

इस नगर की वास्तविक उन्नति छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्रारंभ होती है। इस समय मौखरियों के काल में उत्तरी भारत की राजधानी पाटलिपुत्र से हट कर कान्यकुब्ज चली आई। ईशानवर्मा, शर्ववर्मा, अवन्तिवर्मा तथा ग्रहवर्मा आदि मौखरि राजे बड़े ही तेजस्वी थे। बाणभट्ट के अनुसार इनके समय में मौखरियों की पूजा शिव के पदचिन्ह की भाँति होती थी। उन्होंने हूणों तक को हरा दिया था। वे कला और संस्कृति के प्रेमी थे। बाणभट्ट के आचार्य मौखरियों के दरबारी कवि थे। संभवतः मुद्राराक्षस के रचयिता विशाखदत्त भी मौखरियों के संरक्षण में रहते थे। रविशान्ति नामक संस्कृत का पहुँचा हुआ कवि ईशानवर्मा के दरबार में रहता था। बाद में चल कर हर्ष ने भी अपनी राजधानी यहीं पर स्थापित की। इनके समय में जितनी भी राजनीतिक और सांस्कृतिक घटनायें घटी थीं, उन सब की रूपरेखा इसी नगर में तैयार की गई थी।

उनके समय में हुयेनसांग इस नगर में आया हुआ था। उसने इसका रोचक वर्णन किया है। उसके अनुसार यह समृद्धिशाली नगर तीन मील लम्बा और एक मील चौड़ा था। इसके चारों ओर एक गहरी खाईं और ऊँची दीवाल थी। भीतर उपवन, वितान, सरोवर और अट्टालिकायें सुन्दर ढंग से सुशोभित थीं। बाज़ारों में दूर देशों से आई हुई चीजें विक्रय के हेतु सजा दी गई थीं। नागरिक सभ्य एवं सम्पन्न तथा धार्मिक एवं निश्छल थे। उनकी वेशभूषा एवं वाग्पटुता प्रशंसनीय थीं। स्थान-स्थान पर ब्राह्मण-मन्दिर बने थे। मठों में भिक्षु बहुसंख्या में रहते थे।

इसी समय हर्ष ने वहाँ एक बहुत बड़ी धार्मिक सभा बुलाई थी, जिसमें दूर-दूर से विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी इकट्ठे हुये। वलभी एवं कामरूप के नरेश तथा उसके बहुतेरे सामन्त अपने दलबल के साथ नियत तिथि पर यहाँ एकत्र हुये। उनके रुकने के लिये बड़ा ही सुन्दर प्रबन्ध था। पहले से ही एक सुन्दर सभा-भवन बना हुआ था, जिसमें ठीक समय पर सभी जमा हुये। जिन्हें वहाँ बैठने को स्थान नहीं मिला वे बाहर खड़े थे। सभा का अध्यक्ष हुयेनसांग चुना गया। हर्ष यह सिद्ध करना चाहते थे कि महायान धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ है। घोषणा की गई कि अगर सभा का कोई भी सदस्य इस धर्म में कोई भी बात असंगत सिद्ध कर दे, तो हुयेनसांग अपना सिर कटाने को तैयार है। किसी ने इस चुनौती को स्वीकार नहीं की।

लगता है कि हर्ष के व्यक्तित्व से आक्रान्त होने के कारण यह साहस किसी को भी नहीं हो सका। अन्त में हुयेनसांग विजयी घोषित किया गया और महायान धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म स्वीकार कर लिया गया। इस विजय के उपलक्ष में एक शानदार जलूस नगर में निकाला गया, जिसमें हाथियों की पीठ पर सज-धज कर सवार हर्ष, उनके सामन्त एवं हुयेनसांग आदि भी सम्मिलित थे।

यह सम्राट उन इने-गिने भारतीय नरेशों में आता है, जो कवि और लेखक भी थे। उसने तीन नाटकों की रचना की थी—रत्नावली, नागानन्द और प्रियदर्शिका। इनमें कहीं-कहीं उनके व्यक्तिगत जीवन और विचारों की झाँकी मिलती है। उसके दरबारी कवियों और लेखकों में सबसे प्रसिद्ध बाणभट्ट था, जिसने हर्षचरित और कादम्बरी नामक ग्रन्थों की रचना की थी। उसके समय के अन्य कवि मयूरशर्मा, मातंगदिवाकर और धावक आदि थे।

हर्ष का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध था। तब से लेकर बारहवीं शताब्दी तक बहुतेरे राजवंशों की राजधानियाँ इसी नगर में क्रमशः स्थापित की गईं और यही पूरे भारतवर्ष का सबसे प्रधान नगर था। इसकी समृद्धि और ऐश्वर्य के कारण इसे 'महोदय-नगर' कहा जाता था। प्रतिभासंपन्न राजशेखर, जो संपूर्ण भाषाओं में निपुण तथा बालकवि माना जाता था, इसी नगर की विभूति था। वहाँ वह प्रतिहार-नरेश महेन्द्रपाल और उनके पुत्र महीपाल का आचार्य था। उसके प्रायः सभी नाटकों का अभिनय इसी नगर में हुआ था। वह लिखता है कि कान्यकुब्ज के नागरिकों की संस्कृति अनुकरणीय थी। संस्कृत एवं प्राकृत आदि भाषाओं पर उनका अधिकार था। पुरललनाओं का केशविन्यास, अलंकार-प्रसाधन एवं वेशभूषा संपूर्ण भारतवर्ष में आदर्श मानी जाती थी।

राजशेखर की चौहाणकुल में उत्पन्न अवन्तिसुन्दरी नामक पत्नी, जिसके अनुरोध पर उसने कर्पूरमंजरी नामक प्राकृत नाटक लिखा था, स्वयं विदुषी थी। अपने नाना ग्रन्थों में इस कवि ने बार-बार कान्यकुब्ज का उल्लेख किया है। लगता है कि इसके साथ उसका सहज स्नेह था और उसके जीवन का अधिकांश भाग इसी नगर में बीता। राजशेखर के समय में क्षेमीश्वर नामक कवि भी कान्यकुब्ज में ही महीपाल का सभासद था। वह राजशेखर से प्रभावित था। उसने 'चंडकौशिक' नामक नाटक की रचना की जिसमें हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र की कथा का सुन्दर निरूपण मिलता है। उसका एक अन्य नाटक 'नैषधानन्द' नामक है, जिसमें नल-दमयन्ती की कथा का रोचक वर्णन आता है।

कान्यकुब्ज के नागरिक बड़े ही विद्या-व्यसनी थे। वहाँ काव्यगोष्ठियाँ खूब हुआ करती थीं। राजशेखर ने लिखा है कि वहाँ के कवि उत्कृष्ट रचनाओं को सुना कर लोगों को अमृतपान कराते थे। अपने विषयों में मजे हुये विद्वान् पण्डित इस नगर में रहते थे। काश्मीरी कवि बिल्हण का वहाँ पंडितों के साथ शास्त्रार्थ हुआ था। कान्यकुब्ज के गहड़वाड़ नरेश भी बड़े विद्या-व्यसनी तथा विद्वानों का समादर करने वाले थे। इस वंश के महाराज जयचन्द्र के दरबार में श्रीहर्ष नामक कवि रहता था, जिसने नैषधचरित नामक महाकाव्य लिखा। वह लिखता है कि यह नरेश उसे आसन और पान के दो बीड़े अपने हाथ से दिया करता था। गहड़वाड़ नरेश गोविन्दचन्द ने सुहल नामक विद्वान् को किसी पण्डित-सभा में शास्त्रार्थ में हिस्सा लेने के लिये भेजा था। सभी बातों पर विचार करते हुये हम दावे के साथ कह सकते हैं कि बारहवीं सदी के अन्त तक (जब मुसलमानों का उत्तरी भारत पर असली कब्जा कायम हुआ) यह एक आदर्श नगर था। मुसलमान यात्रियों ने कान्यकुब्ज के वैभव की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से की है। अल्बरूनी इसकी आँखों देखी हाल का वर्णन करता हुआ लिखता है कि यह एक समृद्ध नगर था। उत्बी लिखता है कि इसका किला अपने ढंग का निराला ही था। बिरले ही नगर इसके टक्कर में आते थे।

वाराणसी

इस पुर को हम भारतवर्ष का रोम या कुस्तुन्तुनियाँ कह सकते हैं। यह एक ऐसा नगर था जिसके नाम की व्युत्पत्ति का ऐतिहासिक कारण था। पुराणों में कहा गया है कि यह वरना (वरणा) और अस्सी (आसी) नदियों के बीच स्थित था। बहुत बाद में चल कर अबुलफज़ल लिखता है कि वाराणसी जिसको आजकल लोग बनारस कहते हैं एक विशाल नगर है जो वरना तथा अस्सी नदियों के बीच बसा है। यहाँ पर उल्लेख कर देना आवश्यक हो जाता है कि काशी, जनपद का नाम था और वाराणसी उसकी राजधानी थी। इसीलिये उसे 'काशीनगर' या 'काशीपुर' भी कहते थे। इसकी विलक्षण सुन्दरता को देखकर लोग इसे 'सुदर्शन' या 'रम्यनगर' कहते थे।

काशी-नरेश बड़े ही शक्तिशाली माने जाते थे। बौद्ध ग्रन्थों में काशी के राजा को सभी नरेशों में श्रेष्ठ कहा गया है। उनमें ब्रह्मदत्त नामक वहाँ के प्रतापी राजा का उल्लेख मिलता है जिसकी शक्ति से समकालीन नरेश थर्रा उठते थे। उसकी राजधानी वाराणसी को जातकों में भारतवर्ष का सर्वश्रेष्ठ पुर कहा गया है। यह भोगविलास की सामग्री से परिपूर्ण था। इसकी सुन्दरता और समृद्धि को देख कर

सभी राजे ललच उठते थे। केवल करों से ही वहाँ से एक लाख सुवर्ण-मुद्राओं की सालाना आमदनी हुआ करती थी। लगता है कि नागरिक बड़े ही धनीमानी थे और नगर काफी घना बसा था। इसके आकर्षण के कारण समय-समय पर इस नगर पर हमले भी हुये। एक बार तो सात नरेशों ने इसे घेर लिया था। मगध-सम्राट् अजातशत्रु के काल में यह जीतकर मगध-साम्राज्य में कुछ समय के लिये सम्मिलित कर लिया गया था।

गौतम बुद्ध का शिष्य आनन्द इससे बहुत ही प्रभावित था। उसने बुद्ध से सुझाव रखा था कि भगवन् ! आपके परिनिर्वाण के लिये यही नगर योग्य होगा। नगर के भीतर समृद्ध व्यापारी, तरह-तरह के उद्योग-धंधों के पालन करने वाले, साहित्यकार और कलाकार रहते थे। सड़कें, नागरिक शालायें, देवालय तथा राज-महल आदि विधिवत् बने थे। पुरवासी अध्ययनशील, शृंगार-प्रेमी एवं जिज्ञासु थे। बहेलिये और निम्न व्यवसाय वाले नगर के बाहर रहते थे। जैसी प्राचीन युग की प्रथा थी, यह नगर भी खाईं और दीवाल के द्वारा घिरा था जिसमें सुन्दर दरवाज़े लगे थे। रात्रि अधिक बीतने पर फाटक बन्द कर दिये जाते थे। नतीजा यह था कि अगर यात्री नगर में देर से पहुँचते थे, तो उन्हें बाहर ही पूरी रात बितानी पड़ जाती थी। फिर सबेरा होने पर जब फाटक खुलता था, तो वे भीतर जा पाते थे।

इस नगर के समीप ही सारनाथ पड़ता था, जिसे 'ऋषिपत्तन' अर्थात् साधु-संन्यासियों का नगर कहा जाता था। स्पष्ट है कि यह एक ऐसा केन्द्र था, जहाँ पर नाना सन्त और विभिन्न धर्मावलम्बी रहते थे। यही कारण है कि गौतम बुद्ध ने अपना पहला व्याख्यान इसी स्थान पर दिया। अशोक ने वहाँ एक स्तूप बनवाया जो संभवतः उसी स्थान पर था, जहाँ गौतम बुद्ध का प्रवचन हुआ था। उसने वहाँ एक लाट भी खड़ी की, जिस पर उसका एक लेख राजाज्ञा के रूप में खुदा हुआ है। इसके अनुसार अगर कोई भी भिक्षु बौद्ध संघ की एकता में भेद-भाव डालने की चेष्टा करेगा, तो उसे सदस्यता से हमेशा के लिये वंचित कर दिया जायेगा। मठ में रहने वाले भिक्षुओं में धर्म के नाम पर जो अनावश्यक झगड़े खड़े हो रहे थे, उन्हें वह रोकना चाहता था।

ऊपर इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि वाराणसी पर कब्जा जमाने के लिये भारतीय राजाओं में बमचख मची रहती थी। इस कारण समय-समय पर वहाँ पर राजनीतिक उथल-पुथल हुये थे। यहाँ पर पाठकों का ध्यान इस ओर भी आकर्षित किया जाता है कि इस नगर को विदेशी हमलों का भी शिकार बनना पड़ा

था। पहली शताब्दी के अन्तिम भाग में कुषाणों ने इसे जीत लिया था। सारनाथ में बुद्ध की एक प्रतिमा के ऊपर कुषाण-राजा कनिष्क के राज्यकाल के तीसरे वर्ष का एक लेख मिला है, जिसके अनुसार उसके प्रतिनिधि शासक वाराणसी में राज्य कर रहे थे। बाद में चल कर कनिष्क के वंशजों को भारशिव वंश के नरेशों ने गंगा-घाटी से मार भगाया। यह एक भारतीय राजवंश था और नागवंश की प्रसिद्ध शाखाओं में एक था। इसके नरेश अपने कंधों पर शिवलिंग धारण करते थे और इस कारण ही यह वंश भारशिव वंश के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इन्होंने वाराणसी में दस अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था। विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि यहाँ पर आधुनिक दशाश्वमेध घाट नामक स्थान पर इनके दस यज्ञ हुये थे और इस कारण ही यह घाट इस नाम से प्रसिद्ध हो गया।

व्यापार, व्यवसाय, कला और विद्या से तो इस नगर का संबन्ध प्रारंभ से ही रहा है। यह नगर चालू तिजारती रास्तों पर स्थित था। सौदागरों का लम्बा कारवाँ वहाँ से बराबर गुजरा करता था। ऐसा लगता है कि इस नगर में व्यापारियों को लाभ की गुंजायश ज्यादे थी। पतंजलि ने महाभाष्य में लिखा है कि वणिकों में कुछ ऐसी धारणा थी कि इस नगर से तिजारती सिलसिला कायम रखने पर सारे दुःख-दरिद्र छूट जाया करते हैं। तण्डुनालि जातक में वर्णन मिलता है कि एक हजार मील की कठिन यात्रा करने के बाद घोड़ा बेचने वाला एक सौदागर वहाँ आया हुआ था। वहाँ के साहूकार बड़े ही धनीमानी थे। विड़ार-जातक के अनुसार वाराणसी के एक सेठ के खजाने में अस्सी करोड़ मुद्रायें रक्खी हुई थीं। चीनी यात्री ह्युयेनसांग लिखता है कि वहाँ की बाज़ारों की दूकानों में सुन्दर वस्तुयें विक्रय के लिये सजी हुई थीं।

वहाँ के उद्योग-धन्धों में कपड़े का व्यवसाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह नगर सूती, रेशमी और ऊनी कपड़ों के लिये प्रसिद्ध था। वहाँ के आस-पास के खेतों में कपास की फसल बड़ी अच्छी होती थी। वाराणसी के बुनकर महीन सूत कातने और बुनने में बड़े ही दक्ष थे। हमारे प्राचीन साहित्य में सफेद, लाल, पीले और नीले बनारसी सूती कपड़ों के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। वहाँ के रेशमी वस्त्रों की माँग विशेष थी। राजकुल के सदस्य, पुरोहित, मंत्री और कर्मचारी इनके बड़े शौकीन थे। एक जातक में वर्णन मिलता है कि किसी स्त्री का पति जब वैराग्य लेने का बराबर हठ करता है, तो वह महीन बनारसी रेशमी वस्त्र पहन कर उसके मन को मोड़ना चाहती है। ये चिकने, रंगीन और सुवासित हुआ करते थे। जातक ग्रंथों में काशी की रानियाँ वहाँ के आकर्षक रेशमी वस्त्रों को पहने हुये दिखाई गई हैं। उनके अनुसार

राजा जनक के सभासद काशी के रेशमी वस्त्रों को पहन कर दरबार में आते थे। पतंजलि ने लिखा है कि वहाँ के रेशमी कपड़े बहुत कीमती हुआ करते थे। नाप में बराबर होने पर भी बनारस का रेशमी वस्त्र और जगहों के रेशमी कपड़ों की समता में अधिक महँगा होता था। इसी तरह बनारसी कम्बलों का बड़ा सम्मान था। काशी के एक राजा ने वहाँ के जीवक नामक राजवैद्य को उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर एक सुन्दर बहुमूल्य बनारसी कम्बल भेंट के रूप में दिया था। इस नगर में हाथी-दाँत की चीजें बहुत अच्छी बनती थीं। विशेष रूप से इनकी चूड़ियाँ दूर-दूर तक भेजी जाती थीं। वहाँ लकड़ी का कारोबार भी अच्छा होता था। वहाँ के कारीगर लकड़ी की कारीगरी में बड़े ही निपुण थे।

जहाँ तक शिक्षा और साहित्य का प्रश्न है, यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि वहाँ कोई विश्वविद्यालय या आज जैसी संगठित शिक्षा-संस्थायें नहीं थीं। वहाँ बड़े-बड़े विद्वान होते थे, जो अपने-अपने विषयों के आचार्य होते थे। वे छात्रों को अपने घर पर ही शिक्षा देते थे। यह परम्परा मध्यकाल तक चलती रही। बर्नियर लिखता है कि वहाँ के पंडित अपने ज्ञान के लिये प्रसिद्ध थे और दूर-दूर से विद्यार्थी उनके यहाँ पढ़ने के हेतु आते थे। इन पंडितों में कुछ उच्च कोटि के दार्शनिक भी थे, जिनसे तर्क-वितर्क करने के लिये बाहर से लोग आते थे। विद्वानों की गोष्ठी या पंडित-सभाओं में शास्त्रार्थ खूब हुआ करते थे। शंकराचार्य जैसे मर्मज्ञ को भी अपने मत के प्रतिपादन के लिये यहाँ आना पड़ा था।

श्रावस्ती

यह कोसल-जनपद का एक प्रमुख नगर था। वहाँ का दूसरा प्रसिद्ध नगर अयोध्या था, जिससे आपका परिचय पहले ही हो चुका है। श्रावस्ती नगर अचिरावती नदी के तट पर बसा था, जिसकी पहचान आधुनिक राप्ती नदी से की जाती है। इस सरिता के तट पर स्थित आज का सहेट-महेट प्राचीन श्रावस्ती का प्रतिनिधि है। इस नगर का यह नाम क्यों पड़ा, इस संबन्ध में कई तरह के वर्णन मिलते हैं। बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के अनुसार इस समृद्ध नगर में दैनिक जीवन में काम आने वाली सभी छोटी-बड़ी चीजें बहुतायत में बड़ी सुविधा से मिल जाती थीं, अतएव इसका यह नाम पड़ गया था।

बौद्ध ग्रन्थों में इस नगर के नाम की उत्पत्ति के विषय में एक अन्य उल्लेख भी मिलता है। इनके अनुसार सवत्थ (श्रावस्त) नामक एक ऋषि यहाँ पर रहते थे, जिनकी बड़ी ऊँची प्रतिष्ठा थी। इन्हीं के नाम के आधार पर इस नगर का नाम

श्रावस्ती पड़ गया था। पाणिनि ने, जिनका समय आज से नहीं कुछ तो चौबीस या पच्चीस सौ साल पहले था, अपने प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' में साफ लिखा है कि स्थानों के नाम वहाँ रहने वाले किसी विशेष व्यक्ति के नाम के आधार पर पड़ जाते थे। महाभारत के अनुसार श्रावस्ती के नाम की उत्पत्ति का कारण कुछ दूसरा ही था। श्रावस्त नामक एक राजा हुये जो कि पृथु की छठीं पीढ़ी में उत्पन्न हुये थे। वही इस नगर के जन्मदाता थे और उन्हीं के नाम के आधार पर इसका नाम श्रावस्ती पड़ गया था। पुराणों में श्रावस्तक नाम के स्थान पर श्रावस्त नाम मिलता है। महाभारत में उल्लिखित यह परम्परा उपर्युक्त अन्य परम्पराओं से कहीं अधिक प्राचीन है। अतएव उसी को प्रामाणिक मानना उचित बात होगी। बाद में चल कर कोसल की राजधानी, अयोध्या से हटाकर श्रावस्ती ला दी गई थी और यही नगर कोसल का सबसे प्रमुख नगर बन गया। एक बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार वहाँ ५७ हजार कुल रहते थे और कोसल-नरेशों की आमदनी सबसे ज्यादे इसी नगर से हुआ करती थी। गौतम बुद्ध के समय में भारतवर्ष के ६ बड़े नगरों में श्रावस्ती की गणना हुआ करती थी। यह चौड़ी और गहरी खाईं से घिरा हुआ था। इसके अतिरिक्त इसके इर्द-गिर्द एक सुरक्षा-दीवाल भी थी, जिसमें हर दिशा में दरवाजे बने हुये थे। हमारी प्राचीन कला में श्रावस्ती के दरवाजों का अंकन हुआ है। उससे ज्ञात होता है कि वे काफी चौड़े थे और उनसे कई बड़ी सवारियाँ एक ही साथ बाहर निकल सकती थीं। कोसल के नरेश बहुत सज-धज कर बड़ी हाथियों की पीठ पर कसे हुये चाँदी या सोने के हौदों में बैठ कर बड़े ही शान के साथ बाहर निकला करते थे। चीनी यात्री फाहियान और हुयेनसांग ने भी श्रावस्ती के दरवाजों का उल्लेख किया है।

हमारे कुछ पुराने ग्रन्थों के अनुसार कोसल का यह प्रधान नगर सर्वदा रमणीक, दर्शनीय, मनोरम और धनधान्य से संपन्न था। इसमें सभी तरह के उपकरण मौजूद थे। इसको देखने से लगता था, मानों देवपुरी अकलनन्दा ही साक्षात् धरातल पर उतर आई हो। नगर की सड़कें चौड़ी थीं और इन पर बड़ी सवारियाँ भली भाँति आ सकती थीं। नागरिक शृंगार-प्रेमी थे। वे हाथी, घोड़े और पालकी पर सवार होकर राजमार्गों पर निकला करते थे। इसमें राजकीय कोष्ठागार (कोठार) बने हुये थे जिनमें घी, तेल और खाने-पीने की चीजें प्रभूत मात्रा में एकत्र कर ली गई थीं।

वहाँ के नागरिक गौतम बुद्ध के बहुत बड़े भक्त थे। 'मिलिन्दप्रश्न' नामक ग्रन्थ में चढ़ाव-बढ़ाव के साथ कहा गया है कि इसमें भिक्षुओं की संख्या ५ करोड़ थी।

इसके अलावा वहाँ के तीन लाख सत्तावन हजार गृहस्थ बौद्ध धर्म को मानते थे। इस नगर में जेतवन नाम का एक उद्यान था जिसे वहाँ के जेत नामक राजकुमार ने आरोपित किया था। इस नगर का अनाथपिण्डिक नामक सेठ जो बुद्ध का प्रिय शिष्य था, इस उद्यान के शान्तिमय वातावरण से बड़ा प्रभावित था। उसने इसे खरीद कर बौद्ध संघ को दान कर दिया था। बौद्ध ग्रन्थों में कथा आती है कि इस पूँजीपति ने जेतवन को उतनी ही मुद्राओं में खरीदी थीं जितनी की बिछाने पर इसकी पूरी फर्श को भली प्रकार ढक देती थीं। उसने इसके भीतर एक मठ भी बनवा दिया जो कि श्रावस्ती आने पर बुद्ध का विश्रामगृह हुआ करता था। इसे लोग 'कोसल-मन्दिर' भी कहते थे। अनार्थपिंडिक ने जेतवन के भीतर कुछ और भी मठ बनवा दिये जिनमें भिक्षु लोग रहते थे। इनमें प्रत्येक के निर्माण में एक लाख मुद्रायें खर्च हुई थीं। इसके अतिरिक्त उसने कूयें, तालाब और चबूतरे आदि का भी वहाँ निर्माण करा दिया था। बौद्ध ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि जेतवन में रहने वाले भिक्षु सुबह और शाम राप्ती नदी में नहाने के लिये आते थे। लगता है कि यह उद्यान इसके तट के समीप ही कहीं स्थित था। अनार्थपिंडिक ने अपने जीवन की सारी कमाई बौद्ध संघ के हित में लगा दी थी। उसके घर पर श्रमणों को बहुसंख्या में प्रति दिन यथेष्ट भोजन कराया जाता था। गौतम बुद्ध के प्रति श्रद्धा के कारण श्रावस्ती नरेशों ने इस नगर में दानगृह बनवा रक्खा था, जहाँ पर भिक्षुओं को भोजन मिलता था।

इस नगर के अन्य प्रसिद्ध स्थानों में पूर्वाराम और मल्लिकाराम उल्लेखनीय हैं। पूर्वाराम का निर्माण नगर के धनिक सेठ मृगधर की पुत्रवधू विशाखा के द्वारा कराया गया था। यह नगर के पूर्वी दरवाजे के पास बना था। संभवतः इसीलिये इसका नाम पूर्वाराम (अर्थात् पूरबी मठ) पड़ा। यह दो मंजिला भवन था, जिसमें मजबूती लाने के लिये पत्थरों की चुनाई की गई थी। लगता है कि मल्लिकाराम इससे बड़ा विश्राम-भवन था, जिसमें ऊपर और नीचे कई कमरे थे। इसका निर्माण श्रावस्ती की मल्लिका नाम की साम्राज्ञी के द्वारा कराया गया था। नगरों में आने वाले बौद्ध परिब्राजक, निर्ग्रन्थ, जैन साधु-संन्यासी और नाना धर्मों के अनुयायियों के विश्राम तथा भोजन-वस्त्र की पूरी सुख-सुविधा थी। गौतम बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द, सारिपुत्र, मौद्गल्यायन तथा महाकाश्यप आदि ने भी वहाँ के नागरिकों को अपने सदुपदेशों से प्रभावित किया था। उनकी अस्थियों के ऊपर यहाँ स्तूप बने हुये थे। अशोक धर्म-यात्रा के प्रसंग में श्रावस्ती आया हुआ था। उसने इन स्तूपों पर भी पूजा चढ़ाई थी।

इस नगर में जैन मतावलंबी भी रहते थे। इस धर्म के प्रवर्तक महाबीर स्वामी वहाँ कई बार आ चुके थे। नागरिकों ने उनका दिल खोल कर स्वागत किया और अनेक उनके अनुयायी बन गये। वहाँ पर ब्राह्मण मतावलंबी भी मौजूद थे। वेदों का पाठ और यज्ञों का अनुष्ठान आदि इस नगर में चलता रहता था। मल्लिकाराम में सैकड़ों ब्राह्मण साधु धार्मिक विषयों पर वादविवाद में संलग्न रहा करते थे। विशेषता यह थी कि वहाँ के विभिन्न धर्मानुयायियों में किसी तरह के सांप्रदायिक झगड़े नहीं थे।

लगता है कि जैसे-जैसे कोसल-साम्राज्य का अधःपतन होने लगा, वैसे-वैसे श्रावस्ती की भी समृद्धि घटने लगी। जिस समय चीनी यात्री फाहियान वहाँ पहुँचा, उस समय वहाँ के नागरिकों की संख्या पहले की समता में कम रह गई थी। अब कुल मिला कर केवल दो सौ परिवार ही वहाँ रह गये थे। पूर्वाराम, मल्लिकाराम और जेतवन के मठ खंडहर को प्राप्त होने लगे थे। उनकी दशा को देखकर वह दुखी हो गया। उसने लिखा है कि श्रावस्ती में जो नागरिक रह गये थे, वे बड़े ही अतिथि-परायण और दानी थे। हुयेनसांग के आगमन के समय यह नगर उजड़ चुका था। चारों ओर खंडहर ही दिखाई दे रहे थे। वह लिखता है कि यह नगर समृद्धि-काल में तीन मील के घेरे में बसा हुआ था। आज भी अगर आप को गोंडा जिले में स्थित सहेट-महेट जाने का अवसर मिले, तो वहाँ श्रावस्ती के विशाल खंडहरों को देख कर इसके पूर्वकालीन ऐश्वर्य का अनुमान आप लगा सकते हैं।

कपिलवस्तु

यह श्रावस्ती का समकालीन नगर था। यहाँ पर शाक्य-राजा शुद्धोधन की राजधानी थी जो गौतम बुद्ध के पिता थे। परंपरा के अनुसार वहाँ कपिल मुनि ने तपस्या की, इसीलिये यह कपिलवस्तु (अर्थात् महर्षि कपिल का स्थान) नाम से प्रसिद्ध हो गया। नगर के चारों ओर एक दीवाल थी जिसकी ऊँचाई अठारह हाथ थी। गौतम बुद्ध के काल में भारतवर्ष के समृद्धिशाली नगरों में इसकी गणना होती थी। यह उस समय तिजारती रास्तों पर पड़ता था। वहाँ से एक सीधा रास्ता वैशाली, पटना और राजगृह होते हुये पूरब की ओर निकल जाता था। दूसरा रास्ता वहाँ से पश्चिम में श्रावस्ती की ओर जाता था।

नगर के भीतर एक सभा-भवन बना हुआ था, जहाँ पर शाक लोग एकत्र होकर महत्त्वपूर्ण विषयों पर सोच-विचार किया करते थे। बाद में एक सभा-गृह और बनवा दिया गया, जिसका उद्घाटन स्वयं गौतम बुद्ध ने किया था। वे इस

अवसर पर अपने शिष्यों सहित वहाँ आये थे। उनके सम्मान में नगर अच्छी तरह सजा दिया गया और चारों ओर एक योजन की दूरी तक रोशनी की गई। उनकी सुविधा के लिये इस समय शान्ति की पूरी व्यवस्था कर दी गई थी। कुछ बौद्ध ग्रन्थों में इसकी शोभा का वर्णन अतिशयोक्ति के साथ किया गया है। 'बुद्धचरित' नामक बौद्ध ग्रंथ में इसी पुर को सभी नगरों में श्रेष्ठ (पुराधिराज) कहा गया है। इसकी समता में तत्कालीन कोई भी नगर नहीं आ सकता था और इसके ठाटबाट को देख कर लगता था मानों स्वयं राजलक्ष्मी ही वहाँ पर निवास कर रही हों। दरिद्रता के लिये वहाँ कोई अवकाश नहीं था। नागरिकों के घर वहाँ उसी तरह सुशोभित थे, जिस तरह सरोवर में कमलों की पंक्तियाँ। ललितविस्तर नामक ग्रन्थ में इसके सुन्दर उपवन एवं विहार आदि का वर्णन मिलता है। नागरिक समृद्ध, अच्छे विचारों वाले तथा धार्मिक थे। यहाँ लोगों को युद्ध-शिक्षा दी जाती थी। नगर में सुन्दर बाज़ारें लगती थीं। राजा शुद्धोधन सदाशय और पुरवासियों के हित में संलग्न थे। 'सौन्दरनन्द' नामक काव्य में इसे गौतम की जन्मभूमि कहा गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार वहाँ के नागरिकों को अनुचित कर नहीं देने पड़ते थे और वे सुखी एवं संपन्न थे।

गौतम बुद्ध के विश्राम की सुविधा के लिये शाक्यों ने नगर के बाहर शान्त वातावरण में निग्रोधाराम नामक विहार बनवा दिया था। पहली बार वे इसमें अपने बीस हजार शिष्यों के साथ पधारे थे। कपिलवस्तु के नागरिकों ने उनके व्यक्तित्व और उपदेशों में इतना आकर्षण पाया कि दूसरे ही दिन उनमें से अधिकांश उनके शिष्य बन गये। उनके भाई नन्द और पुत्र राहुल तथा इसी तरह राजकुल के कुछ और भी सदस्यों ने उनसे दीक्षा ले ली थी। उनके प्रभाव में आकर शाक्य बहु-संख्या में बौद्ध संघ के सदस्य बन गये। इस कारण वहाँ कुछ लोगों ने उनके ऊपर परिवारों को तोड़ने का आरोप लगाया। शुद्धोधन ने भी यह सब देखकर राजनियम बना दिया कि बिना माँ-बाप की अनुमति से राज्य का कोई भी व्यक्ति बौद्ध धर्म में दीक्षा न ग्रहण करे।

शाक्यों और उनके विपक्षियों के बीच के झगड़ों में बुद्ध ने कई समयों पर मध्यस्थता की थी। एक बार कोसल के राजा विडुडभ ने शाक्यों से अपने अपमान का बदला लेने के लिये कपिलवस्तु पर आक्रमण कर दिया। इस समय बुद्ध उसे समझाने के लिये इस नगर में आये हुये थे। शाक्यों के पड़ोसी कोलिय लोग रामग्राम में शासन करते थे। दोनों के बीच रोहिणी नदी के जल के प्रश्न को लेकर विवाद खड़ा हुआ। इस झगड़े के कारण भीषण संहार का खतरा आ खड़ा हुआ। गौतम

बुद्ध की मध्यस्थता के फलस्वरूप दोनों ही दल एक संभावित भयंकर क्षति से बच गये। उनके महापरिनिर्वाण के अनन्तर शाक्यों ने उनके शरीर के अवशेष की प्राप्ति के लिये अपनी माँग पेश की थी। उन्हें उनकी अस्थियों का एक भाग प्राप्त हुआ, जिसके ऊपर उन्होंने स्तूप का निर्माण किया।

इस नगर के पास ही लुम्बिनी ग्राम स्थित था, जहाँ पर गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था। इसकी पहचान नेपाल की तराई में स्थित रुमिनदेई नामक ग्राम से की जाती है। बौद्ध धर्म का यह एक प्रमुख केन्द्र माना जाने लगा। अशोक अपने राज्य-काल के बीसवें वर्ष धर्मयात्रा करता हुआ लुम्बिनी पहुँचा था। उसने इस स्थान के चारों ओर पत्थर की दीवाल खड़ी कर दी। वहाँ उसने एक स्तंभ का निर्माण भी किया, जिस पर उसका एक लेख खुदा हुआ है। यह स्तंभ अब भी अपनी जगह पर विद्यमान है। विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि अशोक की यह लाट ठीक उसी जगह खड़ी है, जहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था। अशोक ने वहाँ के निवासियों को कर में भारी छूट दे दी थी। जो तीर्थयात्री वहाँ आते थे, उन्हें अब यहाँ यात्रा-कर नहीं देना पड़ता था। वह कपिलवस्तु भी आया हुआ था। गौतम बुद्ध के जिस स्तूप का निर्माण शाक्यों ने किया था, उसे उसने आकार में दुगुना करा दिया था।

जैसे-जैसे शाक्य गण-राज्य का अधःपतन होता गया, वैसे-वैसे कपिलवस्तु का राजनीतिक महत्त्व भी घटने लगा। बाद में चल कर इसकी प्रतिष्ठा अब केवल बौद्ध तीर्थ के रूप में ही रह गई थी। पाँचवीं सदी में जब चीनी यात्री फाहियान यहाँ आया, उस समय इसकी जनसंख्या काफी घट गई थी। सातवीं शताब्दी में हुसेनसांग भी वहाँ आया था। वह लिखता है कि इस नगर में कई स्तूप थे, जो बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद राजाओं और भक्तों द्वारा बनवाये गये थे। वहाँ कई पुराने मठ भी थे, जो अब बर्बाद हो चुके थे। यह नगर इस समय काफी उजड़ गया था। इसके खंडहरों के बीच जंगली जानवर रहते थे, जिनके कारण यात्रियों को खतरा बना रहता था।

कुशीनगर

यदि कपिलवस्तु गौतम बुद्ध की जन्म-भूमि थी, तो कुशीनगर उनकी निर्वाणभूमि। इसके नाम से छोटे-बड़े सभी परिचित हैं। यहाँ पर मल्ल-गणराज्य की राजधानी थी। मल्ल बुद्ध के परम भक्त थे। वे भी उनसे बहुत प्रसन्न रहते थे और इस नगर के प्रति उनका प्रगाढ़ स्नेह था। जब वे मृत्युशय्या पर पड़े थे, उस समय आनन्द ने उनसे पूछा था कि वाराणसी, पाटलिपुत्र और कौशाम्बी जैसे कई

बड़े नगर थे, जहाँ उनका परिनिर्वाण उनके बड़प्पन के अनुकूल होता। उन्होंने इसके लिये कुशीनगर को ही क्यों चुना ? इससे लगता है कि यह नगर बहुत बड़ा नहीं था। हमारी प्राचीन कला में इस नगर की खाईं, दीवाल और दरवाजों का अंकन हुआ है।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में गौतम बुद्ध वैशाली से पावा आये, जहाँ उन्होंने चुंड नामक शिष्य के यहाँ भोजन किया। इसके थोड़े ही देर बाद वे बीमार पड़ गये और इसी अवस्था में कुशीनगर चले आये। वहाँ इस नगर की दक्षिण-पश्चिम दिशा में स्थित शालवन में उनकी मृत्यु हुई। इस समय मल्लों के सरदार वहाँ मौजूद थे। उनका शव जनता के दर्शन-निमित्त छह दिनों तक सुरक्षित किया गया। सातवें दिन उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया बड़े ही समारोह के साथ संपन्न की गई। मल्ल लोग उनकी अस्थियों पर स्तूप बनवाने की तैयारी करने लगे। पर इसी बीच बुद्ध की मृत्यु का समाचार पाकर उत्तरी भारत के कई राजे कुशीनगर में इकट्ठा हो गये और अस्थियों में अपना हिस्सा माँगने लगे। उन्होंने चारों ओर से नगर को घेर लिया। मल्लों ने अस्थियों का कोई भी हिस्सा उन्हें देने से साफ इन्कार कर दिया और फलस्वरूप युद्ध की परिस्थिति सामने आ गई, पर इसी बीच द्रोण नामक ब्राह्मण ने बुद्धिमत्ता से कार्य किया। उसने इनमें समझौता करा दिया जिसके अनुसार प्रत्येक को एक हिस्सा उपलब्ध हुआ। मल्लों ने अपने हिस्से के ऊपर एक स्तूप बड़े ही समारोह के साथ बनवाया। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् यह नगर उनके मतानुयायियों का एक प्रिय तीर्थ-स्थान बन गया।

कुछ समय के अनन्तर मल्ल-राज्य मगध-साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। फलतः कुशीनगर का अब कोई राजनीतिक महत्त्व नहीं रह गया। पर एक धार्मिक तीर्थ के रूप में इसकी महत्ता बराबर ही बनी रही। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् कुशीनगर की दूसरी उल्लेखनीय घटना यह थी कि सम्राट् अशोक बौद्ध तीर्थों की यात्रा के प्रसंग में यहाँ भी आया था। उसने यहाँ क्या निर्माण किये, इसको बहुत ठीक बताना तो कठिन है। पर यह अनुमान गलत न होगा कि सारनाथ तथा कपिलवस्तु आदि अन्य तीर्थों की तरह उसने यहाँ पर भी स्तूप, स्तम्भ और मठ आदि बनवाये होंगे। हुयेनसांग ने उसके द्वारा निर्मित स्तूपों तथा स्तम्भों के यहाँ वर्तमान होने का उल्लेख किया है। संभव है कि कपिलवस्तु की तरह यहाँ पर भी उसने लगान में किसी तरह की छट दी हो।

चीनी यात्रियों ने इसका नाम 'कु-शिह-कलो' (कुशीनगर) लिखा है। जिस समय फाहियान वहाँ पहुँचा, यह नगर उजड़ चुका था और आबादी नाम मात्र

को रह गई थी। उसने शालवन का उल्लेख किया है, जहाँ गौतम बुद्ध की मृत्यु हुई थी। उसके अनुसार यह स्थान हिरण्यवती के तट पर स्थित था। इस नगर के खंडहरों का विशद उल्लेख हुयेनसांग के यात्रा-विवरण में मिलता है। वह लिखता है कि नगर की सुरक्षा-दीवाल, जिसका घेरा नहीं कुछ तो दो मील के बराबर रहा होगा, गिर चुकी थी। इसके भीतर शाक्यों के जो महल और भवन बने हुये थे, वे भग्नावशेष को प्राप्त हो चुके थे। उनकी केवल नीवें ही दिखाई देती थीं। शहर की बाजारों और सड़कों पर अब कुश-काँटे उग आये थे।

वह इस नगर में पश्चिम से होकर आया था। वह लिखता है कि रास्ता बड़ा ही खराब था। एक घने जंगल से होकर गुजरना पड़ता था जिसमें जंगली जानवरों के हमले का खतरा हमेशा ही था। उसने शालवन का उल्लेख किया है जो अजितवती नदी के किनारे था। लगता है कि उसने हिरण्यवती का ही नाम अजितवती लिख दिया, अर्थात् वह नदी जो कभी जीती नहीं जा सकती। शालवृक्षों की छाल सफेद और पत्तियाँ चमकीली थीं। इन्हीं के द्वारा घिरे स्थान पर गौतम बुद्ध की मृत्यु हुई थी। वहाँ पर ईंटों का बना एक बड़ा चैत्य था जिसके भीतर बुद्ध की निर्वाण-मूर्ति रखी थी। उनका सिर उत्तर की दिशा में था और देखने पर लगता था मानों वे सर्वदा के लिये सो गये हों। इसी के पास अशोक का बनवाया हुआ एक स्तूप था जिसकी ऊँचाई दो सौ फीट के लगभग थी। उसके समीप ही पत्थर की एक लाट भी थी जिस पर तथागत की निर्वाण-घटना अंकित थी।

हुयेनसांग ने अशोक-निर्मित एक और भी स्तम्भ का उल्लेख किया है, जो, उस स्थान पर खड़ा था जहाँ पर बुद्ध की अस्थियों का बँटवारा भारतीय नरेशों के बीच हुआ था। इस पर एक लेख भी खुदा था। यह भूमि बड़ी पवित्र मानी जाती थी। अशोक ने वहाँ एक स्तूप भी बनवा रखा था। इस स्थान की मिट्टी के स्पर्श के लिये लोग बाहर से भी आते थे।

उसने शालवन के समीप एक और स्तूप खड़ा किया। यह ठीक उसी जगह पर था जहाँ सुभद्र की मृत्यु हुई थी। वह पहले ब्राह्मण धर्म का पक्का अनुयायी था। पर बाद में तथागत से प्रभावित होकर एक सौ बीस वर्ष की आयु में उसने बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली थी। बगल में ही एक और भी स्तूप था। यह उसी जगह पर बना था जहाँ बुद्ध की लाश कई दिनों तक जनता के दर्शनार्थ सुरक्षित की गई थी। वहाँ उसने कुछ और भी स्तूप उन स्थानों पर देखे, जो तथागत के जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित थे।

हुयेनसांग के कुछ बाद वहाँ चीन से एक दूसरा यात्री सातवीं सदी के अन्तिम भाग में हमारे देश में आया था। उसका नाम इत्सिंग था। उसने कुशीनगर का जो वर्णन किया है उससे वहाँ के स्मारकों या इमारतों के विषय में ठीक सूचनायें नहीं प्राप्त होतीं। हाल ही में इस ऐतिहासिक नगर में जो खुदाइयाँ हुई हैं उनके द्वारा कुछ पुराने मठ और घरों के खंडहर प्रकाश में लाये गये हैं और उनसे हम इस नगर के पुरातन रूप और गौरव का थोड़ा-बहुत अन्दाज अवश्य लगा सकते हैं।

विदिशा

अब तक हम लोगों ने अधिकांशतः उन नगरों पर विचार किया, जो गंगा-यमुना नदियों के किनारे बसे थे। इस समय थोड़ा उन महापुरियों पर भी विचार कर लेना उचित होगा जो यमुना नदी के पश्चिम या उत्तर-पश्चिम में स्थित थे। इन्हीं पुरियों में विदिशा का नगर आता है जिसकी पहचान आधुनिक बेसनगर से की जाती है। इसकी भौगोलिक स्थिति बड़ी ही महत्त्वपूर्ण थी। पाटलिपुत्र से कौशाम्बी होते हुये जो व्यापारिक मार्ग उज्जयिनी (आधुनिक उज्जैन) की ओर जाता था वह विदिशा से होकर गुजरता था। यह वेत्रवती नदी के तट पर बसा था, जिसकी पहचान आधुनिक बेतवा नदी के साथ की जाती है।

इस नगर का सबसे पहला उल्लेख महाभारत में आता है। इस पुर के विषय में रामायण में एक परंपरा का वर्णन मिलता है जिसके अनुसार रामचन्द्र ने इसे शत्रुघ्न को सौंप दिया था। शत्रुघ्न के दो पुत्र उत्पन्न हुये जिनमें छोटा सुबाहु नामक था। उन्होंने इसे विदिशा का शासक नियुक्त किया था। थोड़े ही समय में यह नगर अपनी अनुकूल परिस्थितियों के कारण पनप उठा। भारतीय आख्यान, कथाओं एवं इतिहास में इसका स्थान निराले तरह का है। इस नगर की नैसर्गिक छटा ने कवियों और लेखकों को प्रेरणा प्रदान की। वहाँ पर कुछ विदेशी भी आये और इसकी विशेषताओं से प्रभावित हुये। कतिपय बौद्ध ग्रन्थों के वर्णन से लगता है कि इस नगर का सम्बन्ध संभवतः किसी समय अशोक के जीवन के साथ भी रह चुका था। इनके अनुसार इस नगर में देव नामक एक धनीमानी सेठ रहता था जिसकी देवा नामक सुन्दर पुत्री थी। अपने पिता के जीवनकाल में अशोक उज्जयिनी का राज्यपाल नियुक्त किया गया था। पाटलिपुत्र से इस नगर को जाते समय वह विदिशा में रुक गया था। देवा के रूप एवं गुणों से वह प्रभावित हो उठा और उससे उसने विवाह कर लिया। इस रानी से महेन्द्र नामक आज्ञाकारी पुत्र और संघमित्रा नामक आज्ञाकारिणी पुत्री उत्पन्न हुई। दोनों ही उसके परम भक्त थे और उसे अपने

जीवन में बड़े ही सहायक सिद्ध हुये थे। संघमित्रा को बौद्ध ग्रन्थों में विदिशा की महादेवी कहा गया है।

इस नगर का वर्णन कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ मेघदूत में किया है। उनके अनुसार यहाँ पर दशार्ण देश की राजधानी थी। प्रवासी यक्ष अपने संदेशवाहक मेघ से कहता है—अरे मित्र! सुन। जब तू दशार्ण देश पहुँचेगा, तो तुझे ऐसी फुलवारियाँ मिलेंगी, जो फूले हुये केवड़ों के कारण उजली दिखायी देंगी। गाँव के मन्दिर कौओं आदि पक्षियों के घोंसलों से भरे मिलेंगे। वहाँ के जंगल पकी हुई काली जामुनों से लदे मिलेंगे और हंस भी वहाँ कुछ दिनों के लिये आ बसे होंगे।

हे मित्र! जब तू इस दशार्ण देश की राजधानी विदिशा में पहुँचेगा, तो तुझे वहाँ विलास की सब सामग्री मिल जायेगी। जब तू वहाँ सुहावनी और मनभावनी नाचती हुई लहरों वाली वेत्रवती (बेतवा) के तट पर गर्जन करके उसका मीठा जल पीयेगा, तब तुझे ऐसा लगेगा कि मानो तू किसी कटीली भौहों वाली कामिनी के ओठों का रस पी रहा है।

वहाँ तू पहुँच कर थकावट मिटाने के लिये 'नीच' नाम की पहाड़ी पर उतर जाना। वहाँ पर फूले हुये कदम्ब के वृक्षों को देखकर ऐसा जान पड़ेगा कि मानों तुझसे भेंट करने के कारण उसके रोम-रोम फरफरा उठे हों। उस पहाड़ी की गुफाओं से उन सुगन्धित पदार्थों की गन्ध निकल रही होगी, जिन्हें वहाँ के रसिक वेश्याओं के साथ रति करते समय काम में लाते हैं। इससे तुझे यह भी पता चल जायेगा कि वहाँ के नागरिक कितनी स्वतंत्रता से जवानी का आनन्द लेते हैं। कालिदास के इस वर्णन से लगता है कि वे इस नगर में रह चुके थे और इस कारण वहाँ के प्रधान स्थानों तथा पुरवासियों के सामाजिक जीवन से परिचित थे।

शुंगों के समय में इस नगर का राजनीतिक महत्त्व बढ़ गया। साम्राज्य के पश्चिमी हिस्सों की देख-रेख के लिये वहाँ एक दूसरी राजधानी भी स्थापित की गई। वहाँ शुंग-राजकुमार अग्निमित्र सम्राट् के प्रतिनिधि (वाइसराय) के रूप में रहने लगा। यह वही अग्निमित्र है, जो कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' नामक नाटक का नायक है। इस ग्रन्थ में उसे वैदिश अर्थात् विदिशा का निवासी कहा गया है। उसका पुत्र वसुमित्र यवनों से लड़ने के लिये सिन्धु नदी के तट पर भेजा गया था। देवी धारिणी, जो अग्निमित्र की प्रधान महिषी थीं उस समय विदिशा में ही थीं। 'मालविकाग्निमित्रम्' में अपने पुत्र की सुरक्षा के लिये उन्हें अत्यन्त व्याकुल दिखाया गया है।

शुंगों के बाद विदिशा में नाग राजे राज्य करने लगे। इस नाग-शाखा का उल्लेख पुराणों में हुआ है। इसी वंश में गणपतिनाग हुआ था, जिसके नाम का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में हुआ है। वह बड़ा पराक्रमी लगता है। उसके राज्य में मथुरा का भी नगर सम्मिलित था। वहाँ से उसके सिक्के मिले हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि जब समुद्रगुप्त उत्तरी भारत में दिग्विजय कर रहा था उस समय वहाँ के नव राजाओं ने उसके विरुद्ध एक गुटबन्दी की, जिसका नायक गणपतिनाग था। ऐसा गुट सचमुच बना या नहीं, इस विषय में हम बहुत निश्चित तो नहीं हो सकते। पर इतना स्पष्ट है कि उस समय के राजमंडल में गणपतिनाग का नाम बड़े ही आदर के साथ लिया जाता था।

भरहुत के लेखों से लगता है कि विदिशा के निवासी बड़े ही दानी थे। वहाँ के एक अभिलेख के अनुसार वहाँ का रेवतिमित्र नामक एक नागरिक भरहुत आया हुआ था। उसकी भार्या चंदा देवी ने वहाँ पर एक स्तम्भ का निर्माण किया था। भरहुत के अन्य लेखों में विदिशा के कतिपय उन नागरिकों के नाम मिलते हैं, जिन्होंने या तो किसी स्मारक का निर्माण किया था या वहाँ के मठों के भिक्षुसंघ को किसी तरह का दान दिया था। इनमें भूतरक्षित, आर्यमा नामक महिला तथा वेणिमित्र की भार्या वाशिकी आदि प्रमुख थे।

कला के क्षेत्र में इस नगर का महत्त्व कुछ कम नहीं था। पेरिप्लस नामक विदेशी महानाविक के अनुसार वहाँ हाथी-दाँत की वस्तुएँ उत्तम कोटि की बनती थीं। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार वहाँ की बनी हुई तेज धार की तलवारों की बड़ी माँग थी। इस स्थान से शुंग-काल का बना हुआ एक गरुड़-स्तम्भ मिला है, जिससे ज्ञात होता है कि वहाँ पर वैष्णव धर्म का विशेष प्रचार था। इस स्तम्भ पर एक लेख मिलता है जिसके अनुसार तक्षशिला से हेलिओडोरस नामक यूनानी विदिशा आया था। वह वैष्णव मतावलम्बी था और इस स्तम्भ का निर्माण उसी ने कराया था। सांस्कृतिक दृष्टि से यह लेख बड़ा ही महत्त्वपूण है। यह इस बात का परिचायक है कि विदेशियों ने भी भारतीय धर्म और संस्कृति को अपना लिया था। विदिशा में इसी तरह और भी भागों से लोग आये होंगे। इस धर्मकेन्द्र में अपने आध्यात्मिक लाभ के लिये लोगों ने स्मारकों का निर्माण किया होगा। विदिशा को स्कन्द-पुराण में तीर्थस्थान कहा गया है।

हेलिओडोरस द्वारा निर्मित विदिशा का उपर्युक्त गरुड़-स्तम्भ कला का एक अच्छा नमूना है। वह मूलतः अशोक के ही स्तम्भों के आदर्श पर बना था। पर

साथ ही उसमें कुछ मौलिक विशेषतायें भी हैं। इसका सबसे निचला भाग ग्राठ कोनों का है। इसी तरह मध्य भाग सोलह कोने का ग्रौर ऊपरी भाग बत्तीस कोने का है। यह विशेषता हमें ग्रशोक के स्तम्भों में नहीं दिखाई देती। इससे लगता है कि विदिशा के कलाकार निपुण थे ग्रौर उनकी प्रतिभा मौलिक कोटि की थी।

उज्जयिनी

कथा-कहानियों में ग्राप उज्जयिनी का नाम बहुत सुनते होंगे। भारतीय परंपरा के ग्रनुसार यहाँ पर विक्रमादित्य की राजधानी थी। यह मालवा (ग्रवन्ति) का प्रधान नगर था। ग्रतएव इसे 'ग्रवन्तिका' या 'ग्रवन्तिपुरी' भी कहते थे। यहाँ सबसे पहले प्रद्योत-वंश की राजधानी थी। गौतम बुद्ध के समय में यहाँ चण्डप्रद्योत नामक राजा राज्य कर रहा था, जो बड़ा भयंकर समझा जाता था। वह ग्रपनी विजयों की एक बड़ी योजना को कार्यान्वित कर उत्तरी भारत का चक्रवर्ती राजा बनना चाहता था। उसने कौशाम्बी के राजा उदयन को हरा कर ग्रपनी राजधानी में उसे कैदी बना रक्खा था। उदयन वीणावादन में बड़ा ही निपुण था। बन्दीगृह में ही उसे प्रद्योत की प्रिय दुहिता वासवदत्ता को संगीत की शिक्षा देना पड़ता था। वहीं पर दोनों में प्रेम हुग्रा। यद्यपि उसके ऊपर कड़ा पहरा लगा दिया गया था तथापि वह उसे लेकर लोगों की नजरों से बचता हुग्रा कौशाम्बी भाग ग्राया। उदयन ग्रौर वासवदत्ता की प्रेम-कथा को लोग बड़े ही चाव से सुनाते थे। दोनों की प्रणय-लीला के ऊपर कवियों ग्रौर लेखकों ने नाटक ग्रौर ग्राख्यान लिखे।

ग्रशोक ग्रपने पिता के राज्यकाल में वहाँ पर राज्यपाल नियुक्त किया गया था। उसके एक लेख में इस नगर का नाम ग्राता है। इस नगर का सबसे सुन्दर वर्णन कालिदास के मेघदूत में हुग्रा है। यक्ष मेघ से कहता है—देख! उत्तर की दिशा में कुछ टेढ़ा-मेढ़ा चलने पर तुझे उज्जयिनी का नगर मिलेगा। उसके राजभवनों को देखना तू मत भूलना। तेरी बिजली की चमक से डर कर वहाँ की स्त्रियाँ जो चंचल कटाक्ष चलायेंगी, उन पर यदि तू न रीझा तो यह समझ लेना कि तेरा जन्म लेना विफल हो गया। इस नगर की ग्रोर जाते समय रास्ते में तुझे निर्विन्ध्या नदी मिलेगी। उतर कर इसके रस को तू ग्रवश्य पी लेना। इसकी उछलती हुई लहरों पर चहचहाती हुई पक्षियों की पंक्तियाँ तुझे करधनी की तरह दिखाई देंगी। यह नदी बहुत सुन्दर ढंग से रुक-रुक कर बह रही होगी। उसमें पड़ी हुई भँवर तुझे उसकी नाभि जैसी दिखाई देगी।

इस निर्विन्ध्या नदी की धारा तेरे विछोह में चोटी की भाँति पतली हो गई होगी। तीर के वृक्षों के पीले पत्तों के गिरने से उसका रंग भी पीला हो गया होगा। अपने वियोग की दशा दिखा कर वह तुझे बता रही होगी कि मैं तेरे वियोग में सूखी जा रही हूँ। देख! तू जल बरसा कर उसे इस तरह भर देना कि उस बेचारी का दुबलापन दूर हो जाय। जब तू अवन्ति देश (मालवा) पहुँचेगा, तो धन-धान्य से भरी हुई तुझे विशाला (उज्जयिनी) नगरी मिलेगी। इसकी चर्चा मैं तुझसे पहले ही कर चुका हूँ। वहाँ गाँव के बड़े-बूढ़े लोग महाराज उदयन की कथा भली भाँति जानते हैं। वह नगरी तुझे ऐसी लगेगी, मानों धरती पर स्वर्ग का एक टुकड़ा जगमगा रहा हो। वहाँ के नागरिक तुझे देवता की तरह लगेंगे, जो अपने बचे हुये पुण्यों को भोगने के लिये इस पुर में रह रहे हों।

हे सखे! उस नगरी में खिले हुए कमलों की गन्ध से सनी हुई तुझे शिप्रा की वायु मिलेगी, जो सारसों की मीठी बोली को दूर-दूर तक फैलाती है। यह स्त्रियों की संभोगजनित थकावट को उसी तरह दूर करती है जिस तरह चतुर प्रेमी पंखा झल कर मीठी-मीठी बातों द्वारा सुरत में थकी अपनी प्रेयसी का मन बहलाता है। और मित्र! उज्जयिनी की हाटों में ऐसा ठाट-बाट तुझे मिलेगा कि तू उसे देखते ही दंग रह जायगा। वहाँ तुझे कहीं तो करोड़ों मोतियों की ऐसी मालायें सजी-धजी दिखाई देंगी जिनके बीच-बीच में बड़े-बड़े रत्न गुथे हुये होंगे, कहीं करोड़ों शंख और सीपियाँ रक्खी हुयी होंगी और कहीं नयी घास के समान नीले और चमकीले नीलम बिछे दिखाई देंगे। उन्हें देख कर यही जान पड़ेगा कि सारे रत्न तो निकाल कर यहाँ की बाज़ारों में जमा कर दिये गये हैं। फिर तो समुद्र में खाली पानी ही बचा होगा।

हे मेघ! वहाँ के जानकर लोग बाहरी नगरों से आये हुयें अपने सम्बन्धियों को यह कथा सुना कर मन बहला रहे होंगे कि यहीं पर मद से भरा हुआ नलगिरि नामक हाथी खूँटा उखाड़ तथा पागल होकर इधर-उधर घूमता था। यहाँ पर वत्स देश के राजा उदयन ने उज्जयिनी के महाराज प्रद्योत की प्यारी कन्या वासवदत्ता को हर लिया था और यहीं उनका बनाया हुआ ताड़ के पेड़ों का सुनहला उपवन था। हे मित्र! वहाँ पर तुझे कहीं अपनी ही तरह मद की धारा बहाने वाले हाथी दिखाई देंगे, कहीं सूर्य के घोड़ों से भी टक्कर लेने वाले पल्लव-सदृश श्यामवर्ण के घोड़े दृष्टिगोचर होंगे और कहीं रावण से भी लोहा लेने वाले वीरवर मिलेंगे जिनके शरीर में पड़े घावों के निशान अलंकार की शोभा को भी मात कर रहे होंगे।

हे सखे ! वहाँ तुझे महाकाल का पवित्र मन्दिर दिखाई देगा जो कि तीनों लोकों के स्वामी और चण्डी के पति हैं। वहाँ शिवजी के गण तुझे अपने स्वामी के कण्ठ की तरह नीला देख कर बड़े आदर के साथ निहारेंगे। उस मन्दिर के हाते में तुझे उपवन दिखाई देगा, जो शिप्रा के जल में विहार करने वाली युवतियों के स्नान से महकती और कमल के गन्ध में बसी हवा द्वारा झूल रहा होगा। और मित्र! महाकाल के इस मन्दिर में अगर तुम शाम होने से पहले पहुँच जाते हो, तो वहाँ तब तक के लिये ठहर जाना जब तक कि सूर्य आँखों से ओझल न हो जाय। उस समय जब महादेव जी की साँझ की सुहावनी आरती होने लगे, तब तुम भी अपने गर्जन का नगाड़ा बजाने लगना। इससे तुम्हें अपने मन्द एवं गंभीर गर्जन का पूरा फल मिल जायेगा।

उस महाकाल-मन्दिर के सामने तुझे वेश्यायें नाचती दिखाई देंगी। उनकी करधनी के घुंघरुओं से मीठी-मीठी आवाज आ रही होगी। प्रतिमा के सामने वे चँवर डुला रही होंगी और उनके हाथ इस क्रिया में थक भी चुके होंगे। उन वेश्याओं के नख-क्षतों पर जब तुम्हारी ठंढी-ठंढी बूँदें पड़ेंगी, तब वे बड़े प्रेम से भौरों की पाँतों के समान अपनी बड़ी-बड़ी चितवन तुम पर चलायेंगी। हे मित्र! जब सन्ध्या की आरती समाप्त हो जायेगी, उस समय साँझ की लालिमा लेकर उन वृक्षों पर तुम छा जाना, जो उनके ऊँचे उठे हुये बाहों जैसे खड़े होंगे। तुम्हारे इस तरह करने से शिवजी के मन में हाथी की खाल ओढ़ने की जो अभिलाषा होगी, वह पूरी हो जायेगी। इस दृश्य को देख कर पहले तो पार्वती जी डर जायेंगी। वे सोचेंगी कि हाथी की यह खाल वहाँ कैसे आ गई। फिर जब वे ध्यानपूर्वक तुझे देखेंगी, तो उनका डर दूर हो जायेगा और तुम्हारी शिव-भक्ति देखती ही रह जायेंगी।

भइया मेघ ! वहाँ की स्त्रियाँ अपने यारों से मिलने के लिये जब घनी अँधेरी रात में निकलें और उन्हें सड़कों पर जिस समय कुछ भी न सूझता हो, तो उस समय तुम उन्हें रास्ता दिखाने के लिये बीच-बीच में बिजली उसी तरह चमका देना जैसे कसौटी पर सोने की लकीर चमकती है। पर देखो भाई ! तुम कहीं गरजने-बरसने मत लगना। नहीं तो वे बेचारी घबड़ा उठेंगी। हे मित्र! जब बहुत देर तक चमकते चमकते तुम्हारी प्यारी बिजली थक जाय, तो उसे लेकर किसी मकान के छज्जे पर तुम रात बिता देना और फिर ज्योंही सबेरा हो जाय तुम वहाँ से चल देना क्योंकि जो व्यक्ति अपने मित्र के काम का बीड़ा उठा लेता है वह कभी आलस्य नहीं करता। उस समय इस नगर में तुझे बहुत से प्रेमी दिखाई देंगे, जो अपने उन प्यारियों के आँसू पोंछ रहे होंगे, जिन्हें रात को अकेली छोड़ कर वे कहीं दूसरी ठौर रमे होंगे।

'मृच्छकटिक' नामक नाटक में उज्जयिनी का जो वर्णन हुआ है, वह कुछ कम रोचक नहीं है। लोगों का ऐसा अनुमान है कि यह गुप्त-काल की रचना है और इस समय यह नगर बहुत ही समृद्धिशाली रहा होगा। इस ग्रंथ के रचयिता शूद्रक माने जाते हैं, जो परम्परा के अनुसार सम्राट् थे। इसमें वर्णन मिलता है कि इस पुर में उद्यान, सरोवर, मन्दिर, सभागृह तथा रम्य प्रासाद मौजूद थे जिससे इसकी शोभा देखते ही बनती थी। नगर-वेश्या वसन्तसेना के भवन को देख कर लोगों का मन ललच उठता था। उसके बहिरूप को देख कर बीतराग साधु-संन्यासी भी आकृष्ट हो जाते थे। चतुर लेखक ने मनोरंजक ढंग से विदूषक के मुँह से उसके महल की शोभा का जो वर्णन कराया है वह तत्कालीन किसी रईस के ऐसे प्रासाद की शोभा को चरितार्थ करता है, जो भोग-विलास की विविध सामग्री से परिपूर्ण हो।

इस भवन में कई खंड बने हुये थे। पहले खंड में प्रवेश करते ही विदूषक विस्मित हो उठा। उसकी दीवालें चन्द्रमा की भाँति धवल थीं और उनमें खूटियों पर मोतियों की झालरें लटकाई गई थीं। सीढ़ियों पर विविध रत्न जड़े हुये थे और प्रवेश-द्वार के सामने द्वारपाल ऊँघ रहा था। पूरे वातावरण को देख कर उसने दाँतों तले ऊँगलियाँ दबा लीं। राजमहल के दूसरे खंड में वसन्तसेना की पशुशाला बनी हुई थी जिसमें तेल से मली हुई सींग वाले अत्यन्त पुष्ट बैल बाँधे गये थे। बगल ही में अपमानित कुलीन व्यक्ति के समान भैंस साँस ले रही थी। उसके पास ही भेंड़े की गर्दन मली जा रही थी। अश्वों के बाल सँवारे जा रहे थे, दुष्ट बन्दर भी चोर की तरह मजबूती के साथ बाँध दिया गया था। पास ही में हाथी भात, तेल और घी से बने हुये मोदकों का भक्षण बड़ी ही मस्ती के साथ कर रहा था।

उस महल के तीसरे खंड में गणिका के प्रेमियों के बैठने के लिये तरह-तरह के आसन रखे थे। पास ही पलंग पर अर्धवाचित पुस्तक रखी थी। दासियाँ हाथों में चित्रफलक लिये हुये रसिकों के मनबहलाव के लिये घूम रही थीं। चौथे प्रकोष्ठ (खंड) का दृश्य तो इससे भी सुन्दर था। वहाँ उसकी संगीत-शाला बनी थी, जिसमें तरह-तरह के बाजे बड़ी मधुरता के साथ बजाये जा रहे थे। युवतियाँ मृदंग बजा रही थीं, जिनसे बादलों की गर्जन की तरह गंभीर शब्द निकल रहा था। कहीं प्रणय में कुपित कामनी की भाँति अंक में आरोपित वीणा का मधुर शब्द सुनाई दे रहा था। गणिका-कन्यायें कुसुम-रस के पान से मत्त मधुकरियों के समान नर्तन कर रही थीं। श्रृंगारिक नाटकों का पाठ भी हो रहा था। घर के पाँचवें प्रकोष्ठ (खंड) में गणिका का रसोई-घर बना हुआ था। उसमें सजे हुये खाद्य पदार्थों को देखकर विदूषक के मुख में पानी आ गया। उसमें कहीं लड्डू बाँधे जा रहे थे, कहीं हींग-तेल की छौंक की

गंध आ रही थी और कहीं पूये पकाये जा रहे थे। दरिद्रजनों के मन को ललचा देने वाले विविध व्यंजनों को बनाने में रसोइया लगे हुये थे।

छठें प्रकोष्ठ में वसन्तसेना की शृंगारशाला थी। वहाँ शौक-सिंगार की चीजें रखी थीं। कहीं मोतियों के दाने लाल धागे में पिरोये जा रहे थे, कहीं चतुर कारीगर सुवर्ण और कीमती रत्नों से आभूषण गढ़ रहे थे, कहीं कस्तूरी घिसी जा रही थी और कहीं कुमकुम शोधा जा रहा था। कहीं चन्दनरस घिसा जा रहा था, तो कहीं पान के बीड़े गणिका-कामुकों को खिलाने के लिये रत्नजटित थाली में रखे हुये थे। सातवें प्रकोष्ठ में पक्षिशाला थी, जहाँ कहीं कबूतरों के जोड़े दिखाई देते थे, कहीं पिंजरे में बैठी मैना कुरकुरा रही थी, कहीं दही और भात से भरे पेट वाले ब्राह्मण की भाँति पंजर-शुक पाठ कर रहे थे। पूरे भवन की सजावट देखते ही बनती थी। इस महल की चोटी पर रखे हुये मंगलध्वज और मंगलकलश दूर से ही दर्शकों के मन को मोह लेते थे।

इस नगर का काव्यात्मक वर्णन 'कादम्बरी' में भी हुआ है, जिसकी रचना बाणभट्ट ने की थी। उनके अनुसार शिप्रा नदी के तट पर स्थित यह नगर तीनों लोकों में श्रेष्ठ था। इसके चारों ओर समुद्र की गहराई का स्मरण दिलाने वाली खाईं तथा पर्वत की ऊँचाई का स्मरण दिलाने वाला प्राकार (परकोटा) सुशोभित था। वहाँ के नागरिक उज्ज्वल वेष वाले, विद्वान्, विनोदशील, कई लिपियों का ज्ञान रखने वाले तथा कथा-कहानियों को सुनाने में निपुण थे। उनका कला-ज्ञान और शास्त्र-ज्ञान सब तरह से प्रशंसनीय था। वहाँ वेद, पुराण, महाभारत और रामायण के पाठ नित्य ही हुआ करते थे। नगर के भीतर चित्रशालायें सुशोभित थीं जिनमें सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर तथा सुर एवं असुर आदि के चित्र बने थे। वहाँ के उत्तुंग भवन अमृत के फेन के समान धवल थे और उन्होंने अपनी अपूर्व कान्ति द्वारा देवपुरी अमरावती की शोभा को भी मात कर दिया था।

उज्जयिनी का बड़ा ही मनोरम वर्णन 'नवसाहसांकचरित' नामक ग्रन्थ में भी मिलता है, जिसकी रचना पद्मगुप्त नामक कवि ने की थी। इस रचना के अनुसार इस भुवन-मंडल में यह नगरी उसी तरह सुशोभित थी जैसे स्वर्ग-लोक में अमरावती। वहाँ नवसाहसांक नामक राजा हुआ, जो इन्द्र की तरह पराक्रमी था। उस नगरी के चतुर्दिक् एक परिखा थी जो उसी तरह सुशोभित थी, जिस तरह किसी कामिनी के नितम्ब पर सोने की करधनी। उस परिखा के जल में कमल खिले थे तथा कलहंस गुंजार कर रहे थे। वहाँ के ऊँचे परकोटे सजग होकर इस पुरी की सम्पत्ति

की रक्षा कर रहे थे। लगता था, मानों भगवान् विष्णु का लीलाशयन शेषनाग अपने शरीर को कुंडलाकार करके स्थित हो गया हो और समुद्र के रत्नों की रखवाली कर रहा हो।

वहाँ थोड़े-थोड़े फासले पर भवन बने थे। उनके कारण उज्जयिनी देवपुरी का स्मरण दिलाती थी। ये घर तीनों लोकों में राजा के यश को फैला रहे थे। उनमें सुन्दर महिलायें रहती थीं। विलासी नागरिकों ने केलिगृह बनवा रखे थे जिन्हें मोतियों की माला से खूब सजा दिया गया था। वहाँ की वरांगनायें रूपवती और साक्षात् काम के अस्त्र की तरह थीं। उनका रूप हाव-भाव को प्रकट करता था। इन भवनों के झरोखे संगमरमर के बने थे और उनकी पंक्ति मृगलोचनाओं के मुखों से सुशोभित होती थी। उन्हें देखकर लगता था, मानों सोने के कमलों से अलंकृत आकाशगंगा की चोटी सामने हो।

पुर-ललनायें मणि-मेखला (सोने की करधनी) धारण करती थीं। उनकी घंटियों की मधुर ध्वनि के श्रवण-मात्र से ही कामोद्दीपन होने लगता था। रईसों के घर की दीवालों में नीलकान्त मणियाँ जड़ी हुई थीं। उन पर गेरुये रंग की ध्वजायें टँगी थीं, जो हवा के झोंके से फड़फड़ा उठती थीं। लगता था, मानों काले बादलों के ऊपर बिजली चमक रही हो। रति-क्रीड़ा के समय स्त्रियों द्वारा गले में पहनी हुई माला से मोती के दाने टूट कर नीचे गिर पड़ते थे और वे प्रातःकाल झाड़ू लगा कर बटोर दिये जाते थे। पुर-वधुओं के मुखचन्द्र की कान्ति को पाकर चन्द्रमा अपनी संपूर्ण कलाओं से युक्त हो उठता था। दीर्घ नेत्रों वाली विलासी नारियाँ अपने कुचाग्रभाग पर कस्तूरी की पत्र-रचना करती थीं और रति-क्रीड़ा के पहले वे अपने झीने वस्त्रों को अगरु के धुयें से भली भाँति सुगन्धित कर लेती थीं। वहाँ के सुधालिप्त प्रासादों में रहने वाली रमणियों के बाल घुँघराले थे और उनके कटाक्षों में विलक्षण मनमोहक शक्ति थी। वे अपनी कान्ति द्वारा चन्द्र-छटा को भी झूठा सिद्ध कर देती थीं। वे अशोक-वीथिकाओं में उसी तरह विहार करती थीं जिस तरह आम्रकुंजों में कोकिलायें।

यह पुरी महाकाल के मन्दिर से सर्वदा उसी तरह युक्त थी, जिस तरह पार्वती जी शंकर भगवान से युक्त हैं। वहाँ शिप्रा नदी, किनारे पर उगे हुये तमाल वृक्षों के प्रतिबिम्ब के कारण हमेशा नीली दिखाई देती थी। जिस समय यह पुरी अनेक यज्ञों से उठने वाले धुयें से चतुर्दिक् घिर जाती थी उस समय लगता था मानों स्वयं समुद्र ने ही इस शंका से कि इसने मेरे रत्नों को चुरा लिया है, नाराज होकर

इसे चारों ओर से घेर लिया हो। वहाँ यदि कहीं वक्रता दिखाई देती थी तो शिव के जटाजूट में स्थित अर्द्धचन्द्र में ही। सुन्दरियाँ जब कामक्रीड़ा से थक कर घर की बावड़ियों में नहाती थीं, उस समय उनका जल उनके शरीर के अंगराग एवं अनुलेप के धुल जाने के कारण सुवासित हो उठता था।

कवि बड़े ही काव्यात्मक ढंग से कहता है कि रात्रि में जब वहाँ की रमणियाँ छत पर बैठ कर गाने लगती थीं, उस समय चन्द्रमा की गोद से मृग उसे सुनने के लिये हट जाता था। केवल ऐसे ही अवसर पर पूर्णचन्द्र उनकी मुखछटा का किसी भाँति अनुकरण कर पाता था। शिप्रा नदी के किनारे लतागृह बने हुये थे। इनमें विलासिनियों के हार एवं करधनी में गुथी हुई मोती की लड़ियाँ कीड़ा-प्रसंग के अवसर पर टूट कर बिखरी रहती थीं। उनसे यह रहस्य खुल जाता था कि ये निकुंज प्रेमी युवक एवं युवतियों के मिलन-स्थल हैं। वहाँ की उद्यान-भूमियाँ चित्ताकर्षक थीं। चन्दनरस से चर्चित स्तनयुगल को धारण करने वाली रमणियाँ इनमें विहार के निमित्त आती थीं।

यह नगरी अपने अंक में शिव-तड़ाग को धारण करती थी, जो पहले कभी ब्रह्मा के कमंडलु के पवित्र जलकणों द्वारा भरा गया था। वहाँ बादल अगरु के धुएँ का संसर्ग पाकर सुगन्धित जल बरसाते थे। वहाँ वाटकिओं की बावड़ियों में कमल खिले थे और जब पुर-सुन्दरियाँ उनमें जल-विहार करने आती थीं, तो कल्लोल-ध्वनि उठने लगती थी। इस नगरी की नाट्यशालाओं के रंगमंच पर नृत्य एवं वाद्य की आवाज गूँजती रहती थी। प्रमदायें अँधेरी रात में अपने प्रेमियों से मिलने के लिये संकेत-स्थान पर जाया करती थीं और उनके पदचिन्ह जो कि लाक्षारस से युक्त थे सबेरा होने पर गलियों में साफ दिखाई देने लगते थे। उज्जयिनी के सौन्दर्य को देखने से लगता था मानों अपने कला-कौशल की पराकाष्ठा का प्रदर्शन करने के लिये विधाता ने बड़ी ही सावधानी के साथ पृथ्वी पर रत्न की भाँति इस नगरी का निर्माण किया हो।

दशपुर

अब तक आप लोगों को नगरों का परिचय साहित्यिक वर्णनों के आधार पर दिया गया। इस स्थान पर हम आपको ऐसे नगर से परिचित कराते हैं, जिसका वर्णन मन्दसोर के एक शिला-खंड पर उत्कीर्ण मिलता है। एक यह ऐतिहासिक स्थान था। यहाँ से और भी लेख प्राप्त हुये हैं जिनमें संस्कृति की अनूठी निधियाँ छिपी हैं। इसी स्थान को आज दसोर भी कहते हैं। यह पश्चिमी मालवा में शिवना

नदी के किनारे स्थित है ग्रौर पहले सिन्धिया-राज्य के मन्दसोर जिले का प्रधान नगर था। इसी स्थान का प्राचीन नाम दशपुर था।

मन्दसोर के शिलालेख (जिसका समय ४७३ ई० है) के ग्रनुसार यह नगर बड़ा ही चित्ताकर्षक था ग्रौर दो नदियों द्वारा घिरा हुग्रा था। लगता था, मानों स्तनयुगल धारण किये हुये प्रीति तथा रति नामक स्त्रियाँ एकान्त में कामदेव का ग्रालिगन कर रही हों। वहाँ के भवन कई मंजिलों से युक्त ग्रौर चन्द्रमा की किरणों के समान धवल थे। ऐसा प्रतीत होता था कि वे एक ही समय पृथ्वी को फाड़ कर ऊपर निकल ग्राये हों। उनकी दीवालों पर सुन्दर चित्रकारी की गई थी ग्रौर उनके हाते में कदली वृक्ष लहलहा रहे थे। उनमें कोमलांगी स्त्रियाँ रहती थीं जिससे वे ग्रत्यन्त सुन्दर लगते थे। जब उन पर बिजली की चमक पड़ती थी, तो वे विचित्र शोभा को धारण करते थे। वे संगीत की ध्वनि से गूँज उठते थे।

वहाँ की वाटिकाग्रों की छटा ग्रौर भी निराली थी। उनके वृक्ष फूलों के भार से झुक गये थे। गजगामिनी पुरवधुग्रों की चाल ग्रौर मद से भरे भँवरों की गुंजार के कारण उनकी शोभा बढ़ गई थी। वहाँ के सरोवरों में कमल खिले थे ग्रौर तट पर उगे हुये वृक्षों के पुष्पों के गिरने के कारण उनका जल विभिन्न रंगों को धारण करता था। इनमें राजहंस तैर रहे थे, जो कमल की पंखुड़ियों के पराग से भूरे वर्ण के लगते थे। वहाँ की पर्वत-मालाग्रों पर हाथियों के गिरते हुये मद का छिड़काव हो रहा था ग्रौर सुन्दर वृक्षों की डालियाँ पुष्पों के बोझ से झुक गई थीं। वहाँ के नागरिक कुशाग्र बुद्धि, स्वाध्यायी एवं सत्यवादी थे। उनसे यह नगर वैसे ही शोभा पा रहा था जैसे तारों से जगमगाता ग्राकाश।

इस नगर में लाट-प्रदेश से कुछ तंतुवाय (बुनकर) ग्राये। यह देश वनस्पति-युक्त पर्वतों से घिरा था। वहाँ मंदिर, सभाभवन, फूल से झुके वृक्ष तथा सुखदायी वाटिकायें सुशोभित थीं। वे ग्रपने शिल्प (कपड़ा बुनने की कारीगरी) में ऊँचा ग्रधिकार रखते थे। पहले वे ग्रकेले ग्राये। नागरिकों ने उनका हार्दिक सत्कार किया। राजा भी उन्हें पुत्रवत् मानने लगा। फिर तो वे ग्रपना परिवार भी वहाँ ले ग्राये ग्रौर प्रसन्नचित्त हो वहाँ रहने लगे। वे ग्रपनी दस्तकारी यानी कपड़ा बुनने के कार्य में दक्ष तो थे ही, इसके ग्रतिरिक्त ग्रौर कलाग्रों का भी उन्हें ज्ञान था।

कुछ ज्योतिषशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे। कुछ धनुर्विद्या में निपुण थे। उनके धनुष की टंकार कानों को सुख पहुँचाती थी। वे युद्ध में धैर्य दिखाते थे ग्रौर शत्रुग्रों के विनाश की विलक्षण शक्ति रखते थे। कुछ मधुर हितकारी वचन कहने में समर्थ

थे । कुछ विनययुक्त थे और कथा-कहानी बड़े ही रोचक ढंग से सुनाते थे । वे कोमल हृदय तथा सच्चरित्र थे । इष्ट मित्रों के साथ वे दया का बर्ताव दिखाते थे । जो उनके संपर्क में आता था, वह उनसे प्रभावित होता था । उन सभी के पास सुन्दर स्त्रियाँ थीं, जो कुल-मर्यादा का ध्यान रखने वाली और कलाविद् थीं। किसी समय प्रतापी राजा कुमारगुप्त राज्य कर रहा था । जिस धरती पर वह राज्य कर रहा था, वह सुन्दर रमणी के तुल्य थी । चारों समुद्र मानों उसके करमबन्द थे, कैलास और सुमेरु पर्वत उसके ऊँचे स्तन थे और हँसी जंगल के वृक्षों से गिरते हुये पुष्प थे ।

इसी चक्रवर्ती राजा के समय में उसका सामन्त विश्ववर्मा था, जो दशपुर का शासक था । वह युद्ध में अर्जुन की तरह शक्तिशाली तथा बृहस्पति की भाँति बुद्धिमान् था । उसका पुत्र बन्धुवर्मा हुआ जो गंभीर, नीतिनिपुण, सुन्दर एवं युद्धकला में प्रवीण था । आभूषणों से सुसज्जित न होने पर भी वह श्रृंगार की मूर्ति की भाँति था । लोग उसे दूसरा कामदेव समझते थे । जब उसके शत्रुओं की सुन्दर नेत्रों वाली विधवाएँ उसके रूप का स्मरण करती थीं, तो भय के कारण उनकी छातियों में कम्पन पैदा होने लगता था । इन बुनकरों ने अपनी दस्तकारी से धन संचित किया और जब यह आदर्श राजा बन्धुवर्मा दशपुर में राज्य कर रहा था, उस समय इस नगर में उन्होंने अपने इक्ट्ठा किये धन से भव्य सूर्य-मन्दिर का निर्माण किया ।

इस मन्दिर का विस्तीर्ण उत्तुंग शिखर चन्द्रमा की रश्मिधारा की भाँति धवल था । इस मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा मालव संवत् ४९३ (४३६ ई०) के शीतकाल में पूस मास के शुक्लपक्ष के तेरहवें दिन मंगलाचार के साथ की गई । कालान्तर में मन्दिर का एक हिस्सा टूट गया और उसके पुनरुद्धार का प्रश्न सामने आ गया । इस समय इन्हीं बुनकरों ने जनता की भलाई के लिये इसका जीर्णोद्धार करा दिया जिससे इसकी शोभा अब पहले से अधिक बढ़ गई । इसका शिखर गगनचुम्बी हो गया । लगता था, मानों इस पर सूर्य-चन्द्र की किरणें आराम कर रही हों । वह नगर इस मन्दिर से उसी तरह सुशोभित था, जिस तरह चन्द्रमा द्वारा स्वच्छ आकाश या कौस्तुभ मणि द्वारा भगवान् विष्णु का वक्षस्थल । मन्दसोर-प्रशस्ति का लेखक वत्सभट्टि कामना करता है कि यह भव्य मन्दिर तब तक चिरस्थायी रहे जब तक भगवान शंकर चन्द्रमा की रश्मियों से सुशोभित जटाजूट धारण करते हैं अथवा भगवान् विष्णु अपने कन्धे पर सुन्दर कमलों की माला धारण करते हैं ।

वलभी

पश्चिमी भारतवर्ष के नगरों में यह पुर भी बहुत ही प्रसिद्ध माना जाता था। इसका सम्बन्ध विद्या, धर्म एवं राजनीति इन तीनों से ही था। नालन्दा के समान यहाँ पर भी एक विश्वविद्यालय था जिसमें अधिकांशतः पश्चिमी भारत के छात्र पढ़ने के लिये आते थे। कभी-कभी पूर्वी भारत के भी बालक यहाँ अध्ययन के हेतु आते थे। कथासरित्सागर नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि विष्णुदत्त नामक सोलह वर्षीय बालक जो गंगा और यमुना की अन्तर्वेदी का रहने वाला था शिक्षोपार्जन के लिये वलभी आया था। चीनी यात्रियों के वर्णन से लगता है कि इस विश्वविद्यालय में लौकिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी; जैसे राजनीति, चिकित्साशास्त्र इत्यादि। वहाँ के स्नातक उच्च राजकीय पदों पर नियुक्त किये जाते थे। जहाँ तक धार्मिक विषयों का श्न है, वहाँ पर हीनयान मत से सम्बन्धित ग्रन्थों का अनुशीलन विशेष रूप से किया जाता था। हुयेनसांग लिखता है कि वहाँ के मठों में अधिकतर हीनयान पुजारी रहते थे। उसके अनुसार इस विश्वविद्यालय के दो आचार्य बड़े ही पारंगत थे—गुणमति तथा स्थिरमति। इनके तथा कुछ अन्य विद्वानों के नाम विश्वविद्यालय के प्रवेश-द्वार पर उत्कीर्ण किये गये थे। इन दोनों आचार्यों के रहने के लिये वहाँ के मैत्रक राजाओं ने अलग मकान बनवा दिये थे। इस राजवंश के नरेश विद्या और संस्कृति के प्रेमी थे। उनके दानपत्रों से ज्ञात होता है कि इस विद्यालय की आर्थिक सहायता के लिये उन्होंने दिल खोल कर दान किया था। वहाँ का पुस्तकालय बड़ा ही समृद्ध था। मैत्रक-राजाओं ने अच्छी पुस्तकों की पाण्डुलिपियों को तैयार कराने में प्रचुर धन लगा दिया था और जनता के लाभ के लिये उन्हें यहाँ पर जमा कर दिया था। वे अपने दरबार में सफल कवियों और लेखकों को आश्रय प्रदान करते थे। भट्टि जो भट्टि-काव्य नामक प्रसिद्ध महाकाव्य के लेखक थे, वलभी में मैत्रक नरेशों के संरक्षण में रहते थे।

उनके समय में यह नगर वैभवशाली था। हुयेनसांग के अनुसार इस नगर की परिधि ६ मील थी। उसने वहाँ के निवासियों की वेशभूषा एवं रहन-सहन की प्रचुर प्रशंसा की है। उनकी प्रथायें मालवा के नागरिकों की रीतियों से मिलती जुलती थीं। इस चीनी यात्री के अनुसार वलभी-राज्य की परिधि १२०० मील थी। यह उपजाऊ एवं हरा-भरा क्षेत्र था। इसमें कई बौद्ध मठ थे जिनमें रहने वाले भिक्षुओं की संख्या ६००० थी। ये सभी हीनयान धर्म से संबन्धित थे। वहाँ के कुछ मन्दिर हिन्दू देवी-देवताओं से संबन्धित थे। इस नगर का राजा क्षत्रिय जाति का था और कन्नौज-सम्राट् हर्ष-शीलादित्य का दामाद लगता था।

भृगुकच्छ

पश्चिमी समुद्र-तट पर स्थित भड़ौंच से आप परिचित ही होंगे। इसी स्थान का प्राचीन नाम भृगुकच्छ था। भारतीय परंपरा के अनुसार वहाँ भृगु ने तपस्या की थी। इस कारण यह भृगुतीर्थ या भृगुकच्छ नाम से प्रसिद्ध हो गया। विदेशी लेखों में इसे 'बैरीगाज़ा' कहा गया है। यह भारतवर्ष का सबसे प्रसिद्ध पश्चिमी बन्दरगाह था। देश का माल उज्जियनी होकर यहाँ लाया जाता था और जहाजों में लाद कर उसे मिस्र, एशिया माइनर, यूनान एवं रोम आदि देशों को भेज दिया जाता था। बाहर भेजी जाने वाली वस्तुओं में बहुमूल्य पत्थर, रेशमी एवं सूती वस्त्र, मलमल, हाथीदाँत की बनी वस्तुएँ, मदिरा, इत्र तथा अनुलेप उल्लेखनीय हैं। विदेशों में इनकी बड़ी माँग थी। प्लिनी नामक रोम के लेखक ने इस बात पर पश्चात्ताप प्रकट किया है कि उसके देश के विलासी नागरिक भोगविलास एवं शृंगार की वस्तुओं की चाट में अपने देश की अपरिमित धनराशि भारतवर्ष भेज दिया करते थे। पश्चिमी देशों के साथ जहाजरानी का सारा काम इसी बन्दरगाह से संचालित होता था।

भृगु की तपोभूमि होने के कारण इस पुर की ख्याति धार्मिक क्षेत्र में बढ़ गई थी। परंपरा के अनुसार बलि ने अपनी सारी भूमि वामन-वेषधारी विष्णु भगवान् को इसी स्थान पर दान कर दिया था। प्राचीन ग्रंथों एवं अभिलेखों के अनुसार पुण्यार्जन के निमित्त लोग यहाँ पर दान देने के लिये आते थे। ह्वेनसांग इस नगर की प्रशंसा करते हुये लिखता है कि यह एक संपन्न नगर था। यहाँ उस समय दद्द (द्वितीय) राज्य कर रहा था, जो बड़ा ही निर्भीक माना जाता था। उसके एक दानपत्र में इस नगर के परकोटे का वर्णन मिलता है।

गिरिनगर

इसका आधुनिक प्रतिनिधि गिरिनार है। इसे लोग जूनागढ़ भी कहते हैं जो 'यवनगढ़' नाम का अपभ्रंश लगता है। गढ़ शब्द से स्पष्ट है कि यहाँ पर कोई दुर्ग था। गिरिनगर नाम पड़ने का कारण यह हो सकता है कि यह पर्वत के समीप स्थित था। इसके दो नाम थे—रैवतक तथा उज्जयन्त। पहले इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि नगर बहुधा पहाड़ियों के समीप बसा दिये जाते थे। ऐसी दशा में उन्हें सुरक्षा का एक सुदृढ़ प्राकृतिक साधन मिल जाता था। हमारे प्राचीन शास्त्रों में इस तरह के पुर या किले को 'गिरिदुर्ग' या 'पर्वतदुर्ग' कहा गया है। प्राचीन काल में गिरिनगर प्रसिद्ध स्थान माना जाता था। इसीलिये

वहाँ कई पुराने लेख मिले हैं। इनमें सर्वप्रथम अशोक-कालीन अभिलेख उल्लेखनीय हैं। इतिहास एवं संस्कृति की दृष्टि से इनकी उपदेयता निर्विवाद है। इन लेखों के माध्यम से वह जनता को अपना सन्देश पहुँचाना चाहता था। संभव है कि वहाँ उस समय कोई मेला भी लगता हो। अशोक ने अपने अभिलेखों को इस दृष्टि से उत्कीर्ण कराया कि वहाँ दूर भागों से आने वाले लोग उनमें लिखित बातों से अवगत हो उन पर चिन्तन-मनन कर सकें।

मौर्यों के समय में इस पुर में सौराष्ट्र (गुजरात) प्रान्त की राजधानी बना दी गई। वहाँ मौर्य-कर्मचारी बहुसंख्या में रहते होंगे। अशोक के काल में इस स्थान पर एक यूनानी, राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया गया था, जिसका नाम तुषास्फ था। यह कार्य उसकी उदारता का परिचय देता है। अशोक के समय में पश्चिमोत्तर भारतवर्ष में कई यवन-बस्तियाँ वर्तमान थीं जो सिकन्दर द्वारा स्थापित की गई थीं। इनमें रहने वाले यूनानियों के प्रति भी उसने उदार नीति का पालन किया। इनमें कुछ ऊँचे दर्जे के कलाकार थे। अनुमान लगाया जाता है कि अशोक ने अपनी लाटों के निर्माण में यूनानी कलाकारों की सहायता ली थी। बाद में चल कर शक-क्षत्रप रुद्रदामन ने गिरिनार में अपनी राजधानी बनाई। उसका भी एक अभिलेख इस स्थान से मिला है जो ऐतिहासिक तथ्यों से भरा है।

गुप्तों के काल का एक लेख यहाँ प्राप्त हुआ है, जिसके अनुसार उस समय यहाँ सौराष्ट्र (गुजरात) प्रान्त की राजधानी थी। वहाँ स्कन्दगुप्त के समय में पर्णदत्त नामक कर्मचारी राज्यपाल की हैसियत से रहता था। वह उसके सभी कर्मचारियों में सबसे सुयोग्य था। इस लेख में काव्यात्मक ढंग से कहा गया है कि जिस प्रकार देवता लोग वरुण को पश्चिमी दिशा का दिग्पाल नियुक्त कर चिन्तारहित हो गये थे, उसी तरह स्कन्दगुप्त पर्णदत्त को अपने पश्चिमी प्रान्त (गुजरात) का रक्षक (गोप्ता) बना कर विश्वासयुक्त हो गया था। पर्णदत्त मतिमान, विनीत, मेधावी, राजभक्त, विशुद्ध बुद्धि और ईमानदारी से भरा था। उसके पुत्र का नाम चक्रपालित था। उसे गिरिनगर का पुरपति (सिटी मजिस्ट्रेट) बनाया गया। वह अपने पिता के समान ही सुयोग्य था। वह अपने गुणों के कारण पुरवासियों में बड़ा ही प्रिय था।

गिरिनगर के प्रसिद्ध स्थानों में दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं:—(१) रैवतक पर्वत तथा (२) सुदर्शन तालाब। रैवतक पर्वत का दृश्य बड़ा ही रमणीक था। यहाँ पर धनीमानी व्यक्ति दिल बहलाने के लिये आया करते

थे। माहाभारत के अनुसार एक बार कृष्ण और अर्जुन सुन्दर स्थानों का पर्यटन करते हुये वहाँ आये। इस समय आसपास के नागरिकों ने उनका स्वागत-समारोह किया। नाचने और गाने वालों की अलग-अलग मंडलियों ने अपनी-अपनी कलाओं का बड़ी ही सफलता के साथ प्रदर्शन किया। इस अवसर पर रैवतक पर्वत ने जिस नवीन शोभा को धारण किया, वह देखते ही बनती थी। इसकी चोटियों पर सिद्ध एवं मुनि लोग रहते थे। इसी कारण इस पर्वत को सुराष्ट्र का 'पुण्यगिरि' कहा जाता था। स्कन्दपुराण के अनुसार भगवान् शंकर ने यहाँ तपस्या की थी।

सुदर्शन तटाक (तालाब) का निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में उसके पुष्यगुप्त नामक कर्मचारी ने कराया था। सिंचाई की सुविधा के लिये अशोक के काल में इससे नहरें निकाल दी गईं। बाद में चल कर शक-क्षत्रप रुद्रदामन ने नागरिकों की भलाई के लिये एक नया बाँध बनवा दिया था, जो आकार में पुराने बाँध का तिगुना था। यही बाँध गुप्त संवत् १३६ (४५५ ई०) के भाद्रपद की षष्ठी की रात को मूसलाधार पानी बरस जाने के कारण टूट गया। फिर तो नागरिकों में खलबली मच गई। रैवतक पर्वत से जो नदियाँ निकलती थीं उनमें भी इस समय भयंकर बाढ़ आ गई। लगता था कि चिरकाल के बन्धन से अब उन्मुक्त हो कर वे शास्त्रविहित ढंग से अपने पति समुद्र से मिलने जा रही हों। भविष्य में जलप्लावन के खतरे से बचने के लिये स्कन्दगुप्त ने एक नवीन बाँध बनवाया जो लगभग ६८ हाथ चौड़ा और नहीं कुछ तो सात मनुष्यों की ऊँचाई के बराबर ऊपर उठा दिया गया था। इस प्रमाण से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राजाओं को जनता की भलाई का कितना ध्यान था।

प्रभास

यह मूलतः धार्मिक एवं व्यापारिक नगर था। महाभारत में इसे 'देवनगर' (देवताओं का पुर) कहा गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार युधिष्ठिर तीर्थयात्रा करते हुये प्रभास आये और वहाँ उनका पड़ाव बारह दिनों तक पड़ा रहा। यह स्थान बड़ा ही आकर्षक एवं रमणीय था। नासिक की एक गुफा के लेख में इसे 'पुण्यतीर्थ' कहा गया है। इसके अनुसार नहपान नामक शक ने अपने धार्मिक लाभ के लिये यहाँ द्विज-कन्याओं का पाणिग्रहण-संस्कार संपन्न कराया था। इस अवसर पर उसने ब्राह्मणों को खूब दक्षिणा दी थी।

बाद में चल कर यही स्थान सोमनाथ कहलाने लगा। अग्निपुराण में इसे प्रभास का दूसरा नाम बताया गया है। यहाँ पर एक शिव-मन्दिर बना हुआ था, जिसकी

आर्थिक सहायता के लिये भारतीय नरेशों ने कई ग्राम दान में दिये थे। मुसलमान लेखकों के अनुसार यह एक बड़ा ही समृद्ध देवालय था। इसके खंभों में सोने जड़े हुये थे। इस मन्दिर में सोने की एक जंजीर थी, जिसकी तौल २०० मन के लगभग थी। इब्न-असीर नामक लेखक के अनुसार वहाँ सहस्रों की संख्या में लोग तीर्थाटन के लिये आते थे। उनके क्षौर-कर्म के लिये तीन सौ नाई लगे हुये थे। सोलंकी राजाओं को वहाँ केवल यात्री-कर से ही हर साल ७२ लाख की आमदनी हुआ करती थी। अल्बरूनी लिखता है कि यह नगर एक अच्छा बन्दरगाह भी था। जहाजों को किनारे लगने में किसी भी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। बन्दरगाह होने के कारण ही इसे 'सोमनाथपत्तन' अथवा 'सोमनाथपट्टण' कहा जाता था।

थानेश्वर

यह नगर कुरुक्षेत्र के समीप स्थित था, जिसे गीता में धर्मक्षेत्र कहा गया है। भारतीय परंपरा के अनुसार कौरव-पांडव युद्ध इसी स्थान पर हुआ था। हमारे धार्मिक ग्रन्थों में कुरुक्षेत्र को बड़ा ही पवित्र स्थान कहा गया है। इसी कारण थानेश्वर भी हिन्दुओं का तीर्थस्थान समझा जाने लगा। इस नगर का प्राचीन नाम स्थाण्वीश्वर था, जो स्थाणु (शिव) तथा ईश्वर शब्दों के संयोग से बना है। यही कारण है कि यहाँ के नागरिक शिव के भक्त थे। यहाँ पर वर्द्धन-वंश की राजधानी थी। इसके नरेश शिव के अनन्य उपासक थे। इस नगर का उल्लेख हुयेनसांग तथा अल्बरूनी आदि विदेशी यात्रियों ने भी किया है।

थानेश्वर का सबसे सुन्दर वर्णन बाणभट्ट ने हर्षचरित नामक ग्रंथ में किया है। वहाँ शिक्षा-संस्थान, संगीत-शालाएँ, मठ एवं मन्दिर आदि सुशोभित थे। विभिन्न दस्तकारियों के जानकार, शास्त्रों के ज्ञाता तथा धनार्जन की इच्छा से आये हुये देश-देशान्तर के भी व्यापारी आदि इस पुर में रहते थे। पुर-सुन्दरियाँ मधुर-भाषिणी थीं। इस नगर को देखने से लगता था, मानों वह स्वर्ग का ही एक भाग हो। वह कुबेर की नगरी अलका का बदला हुआ रूप सा प्रतीत होता था।

शाकल

यह उत्तर-पश्चिम भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। वहाँ मद्र देश की राजधानी विद्यमान थी। इस नगर की पहचान आधुनिक स्यालकोट से की जाती है। सिकन्दर के आक्रमण के समय वहाँ कठ जाति के लोग राज्य करते थे। यूनानी

लेखकों के अनुसार इस पुर के चारों ओर एक ऊँची दीवाल तथा गहरी खाई थी, जो झील की तरह लगती थी। कठों ने बड़ी बहादुरी के साथ सिकन्दर का सामना किया था।

बाद में चल कर यहाँ पर मिलिन्द नामक यवन-राजा राज्य करने लगा, जिसका यूनानी नाम मेनेण्डर था। मिलिन्दप्रश्न (मिलिन्दपञ्हो) नामक ग्रन्थ का नायक वही है। इस रचना के अनुसार शाकल को 'यवन-नगर' भी कहा जाता था। इसमें पुर का वर्णन करते हुये कहा गया है कि इसके चारों ओर एक प्राकार (परकोटा) था, जिसमें द्वार और चौराहे, उद्यान एवं सरोवर मौजूद थे। बाज़ारों में तरह-तरह की चीजें सजी हुई थीं। ऊँचे महलों एवं अटारियों के कारण नगर की शोभा द्विगुणित हो जाती थी। लगता था, मानों साक्षात् देवपुरी ही पृथ्वी पर उतर आई हो। हुयेनसांग के अनुसार इस नगर का घेरा साढ़े तीन मील के लगभग था।

प्रवरपुर

यहाँ काश्मीर की राजधानी थी। इस नगर की नींव प्रवरसेन नामक राजा ने डाली थी, अतएव यह 'प्रवरसेनपुर' अथवा 'प्रवरपुर' नाम से विख्यात हो गया। इस बात को कम ही लोग जानते हैं कि इसी पुर का आधुनिक नाम श्रीनगर है। काश्मीर के पंडित अब भी इस नगर को प्रवरपुर ही कहते हैं। कल्हण की राजतरंगिणी में इस नगर की स्थापना के विषय में एक रोचक कथा मिलती है। इसके अनुसार राजा प्रवरसेन किसी समय रात्रि में विचरण करते हुये एक सूने स्थान में नदी के तट पर पहुँच गये। वहाँ के वृक्ष राक्षस-तुल्य भयंकर लग रहे थे और आस-पास चितायें जल रही थीं। नदी के दूसरे तट पर किसी भयानक पिशाच ने अपनी भुजाओं को उठा कर भीषण गर्जन किया। उस समय उसकी आँखों से अग्नि की लपटें निकल रही थीं। प्रवरसेन ने साहस से काम लिया। वह उन लपटों से घिर जाने के कारण उल्काओं से घिरे कुलपर्वत की भाँति दीखने लगा।

पिशाच की गर्जन की प्रतिध्वनि से सभी दिशायें गुंजित हो उठीं। राजा की निर्भीकता से वह प्रभावित हुआ तथा हँस कर कहने लगा—हे राजन्! तुम्हारे जैसा प्रबल धैर्य मैंने विक्रमादित्य और शूद्रक आदि परम वीर राजाओं को छोड़ कर अन्य किसी में अभी तक नहीं देखा था। आप अगर नदी के पार मेरे पास आने का साहस करें, तो मैं आपकी सारी कामनायें पूरी कर दूँगा। राजा ने अदम्य उत्साह

से नदी को पार किया और पिशाच के पास खड़ा हो गया। उसने कुछ देर तक राजा से बात की तथा शुभ लग्न बता कर कहा—मेरे द्वारा लगाये हुये सूत के अनुसार आप एक नयी राजधानी बनायें ताकि आपका नाम सदा के लिये अमर हो जाय। इतना कह कर वह अन्तर्धान हो गया।

दूसरे दिन राजा ने जब प्रातःकाल उस पिशाच द्वारा लगाया हुआ सूत्रपात देखा, तो उनके अचरज का कोई पारावार नहीं था। उस पिशाच द्वारा बताई हुई शुभ घड़ी में जय नामक शिल्पी की सहायता से प्रवरसेन ने नगर बसाने का काम प्रारंभ कर दिया। पूरा नगर बनते देर न लगी। ऊँची अट्टालिकाओं और देव-मन्दिरों से उसकी शोभा देखते ही बनती थी। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि प्रवरपुर की उत्पत्ति-संबन्धी यह कथा एक गल्प है। नगरों की स्थापना के विषय में लोग इस तरह की कथाओं को प्रायः गढ़ लिया करते थे।

कल्हण लिखता है कि प्रवरसेन ने नागरिकों की सुविधा के लिये वितस्ता (झेलम) नदी के आर-पार नावों का एक विशाल पुल तैयार कर दिया। उसी समय से नावों द्वारा सेतु-निर्माण की प्रथा काश्मीर में प्रचलित हो गई। नगर के भीतर हजारों की संख्या में घर बने हुये थे। वितस्ता नदी के तट पर सुन्दर बाज़ारें बस गईं। धनिक नागरिकों के भवन गगनचुम्बी थे। खेलकूद के मैदान, फल-पुष्प से सुशोभित बाज़ारें तथा निर्मल जल से भरी सुन्दर नहरें बहती हुई देखी जा सकती थीं। नगर के भीतर एक क्रीड़ा-पर्वत भी विद्यमान था, जिसके शिखर पर चढ़ कर लोग नगर की छटा को देखते थे। प्रचण्ड ग्रीष्म-ऋतु में बर्फ की नन्हीं-नन्हीं छर्रियों से युक्त वितस्ता नदी का शीतल जल नागरिकों को अनायास पीने को मिल जाता था।

राजतरंगिणी के अनुसार प्रवरसेन के उत्तराधिकारियों ने, जिनकी धर्म के प्रति असीम निष्ठा थी, इस पुर को मठों एवं मन्दिरों के निर्माण द्वारा अधिक अलंकृत कर दिया। वहाँ के मठों में सबसे प्रमुख भट्टारक-मठ तथा संग्रामकक्षेत्र-मठ थे। ये धार्मिक केन्द्र होने के अतिरिक्त विद्या के भी केन्द्र थे। प्रवरपुर के देवालयों में सबसे प्रमुख प्रवरसेन द्वारा निर्मित एक शिव-मन्दिर था, जिसके संबन्ध में नाना किम्बदन्तियाँ प्रचलित थीं। इसकी छत में एक छिद्र था। काश्मीर की एक दन्त-कथा के अनुसार प्रवरसेन इसी छिद्र से होकर सदेह स्वर्ग गया था।

इस पुर के साथ काश्मीर के नरेशों का प्रगाढ़ अनुराग था। कल्हण लिखता है कि एक बार ललितादित्य मुक्तापीड नामक सम्राट् ने मदिरा के आवेश में आ कर

अपने सचिवों को आज्ञा दी कि प्रवरपुर शीघ्र जला दिया जाय। इस असन्तुलित राजाज्ञा ने उन्हें किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना दिया। वे जानते थे कि नशा उतारने पर राजा को अपनी इस दुष्कृति पर भयंकर पश्चात्ताप होगा। महाप्राज्ञ उन मन्त्रियों ने राजा को दिखाने के लिये घास की एक ऊँची ढेर में आग लगा दी। ललितादित्य ने अपने प्रासाद की छत से अग्नि की लपटों को देख कर समझा कि उसके स्वामि-भक्त मन्त्रियों ने उसकी आज्ञा को कार्यान्वित किया। पर जैसे ही मदिरा का उन्माद समाप्त हुआ, वह मार्मिक दुःख से आक्रान्त हो उठा। मन्त्रियों ने उसकी इस दशा की सूचना पाते ही उसे वास्तविकता से अवगत कर दिया। फिर तो उसकी खुशी का ठिकाना न था। इस समय वह उसी तरह प्रसन्न हुआ, जिस प्रकार कोई व्यक्ति स्वप्न में अपने पुत्र को मरा देख कर पहले तो क्लेशयुक्त हो जाता है, पर बाद में जगने पर उसे देखते ही अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठता है।

इस नगर का मनोरम वर्णन बिल्हण ने भी किया, जो काश्मीर के ही कवि थे। वे बाद में हट कर दक्षिण भारतवर्ष में चालुक्यों की राजधानी में चले आये थे। वहाँ उन्होंने 'विक्रमांकदेवचरित' नामक महाकाव्य लिखा। उनके अनुसार काश्मीर के सभी नगरों में सबसे प्रसिद्ध प्रवरपुर ही था। इसमें वेदपाठी ब्राह्मण रहते थे, जो अध्ययन तथा धार्मिक क्रियाओं में संलग्न रहते थे। नगर की सुशिक्षित महिलायें संस्कृत एवं प्राकृत में बात कर लेती थीं। वितस्ता नदी के किनारे का दृश्य और भी अनुपम था। इसकी चंचल लहरें जब ऊपर उठती थीं, उस समय विलक्षण छटा धारण करती थीं। इस नदी के किनारे लतागृह बने थे, जिनमें नागरिक दिलबहलाव करते थे। इस नगर की छटा यक्षपुरी की शोभा को भी मात कर देती थी।

तक्षशिला

उत्तर-पश्चिम भारत के नगरों में सबसे प्रसिद्ध यही नगर था। भारतीय परंपरा के अनुसार इस नगर की स्थापना तक्ष ने की थी, जो भरत के पुत्र थे। जन्मेजय का नाग-यज्ञ भी यहीं पर हुआ था। स्थल-मार्ग से आने वाले विदेशी सौदागर अपना माल भारतवर्ष में अधिकतर इसी नगर में लाते थे। देश-देशान्तर के वणिक् यहाँ बहुसंख्या में रहते थे। बाहरी देशों के साथ सबसे अधिक सम्पर्क संभवतः इसी भारतीय नगर का था। इस नगर की समृद्धि विदेशी राजाओं के लिये प्रलोभन का कारण बनी। आज से लगभग २५०० वर्ष पहले ईरानी सम्राट् दारा ने इसे जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। ईरानी लेखों से ज्ञात

होता है कि इसके आसपास का प्रदेश बहुत ही सम्पन्न और आबाद था। चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग इस पर सिकन्दर ने आक्रमण किया था। एरियन तथा स्ट्रैबो आदि विदेशी लेखकों के अनुसार यह नगर उस समय बड़ा ही समृद्ध था।

मौर्यों के शासन-काल में उनके उत्तर-पश्चिम प्रान्त की राजधानी यहीं स्थापित की गई। दिव्यावदान नामक बौद्ध ग्रंथ से ज्ञात होता है कि वहाँ के मौर्य कर्मचारियों ने प्रारंभ में नागरिकों में बड़ा आतंक मचा रखा था। उनके अत्याचारों एवं मनमाने क्रूर व्यवहारों के कारण जनता ऊब गई और बाध्य होकर उसने विद्रोह कर दिया। इसको दबाने के लिये वहाँ अशोक भेजा गया था। अपने शासन-काल में उसने वहाँ के निवासियों की सुख-शान्ति की पूर्ण व्यवस्था के लिये अपने कर्मचारियों को हिदायत दे रखी थी।

मौर्यों के उपरान्त वहाँ बाख्त्री यवनों ने कई वर्षों तक राज्य किया। इसके अनन्तर वहाँ शक एवं पह्लवों ने भी राज्य किया। विदेशी शासनों के परिणाम-स्वरूप इस नगर में कुछ बाहरी प्रथायें अपना ली गई। वहाँ अधिकतर विदेशी लिपियाँ चलती थीं, जब कि अन्य भारतीय नगरों में स्वदेशी ब्राह्मी लिपि का ही अधिकतर प्रयोग होता था। यही कारण है कि अशोक के तक्षशिला-लेख की भाषा और लिपि आरमीकी है। इसी तरह कला के क्षेत्र में भी विदेशी प्रभाव पड़े। प्रथम शताब्दी का लेखक एपोलोनियस लिखता है कि यूनानी नगरों की भाँति इस नगर की भी किलेबन्दी की गई थी। इसकी सड़कें बनावट में एथेन्स की सड़कों से मिलती थीं। वहाँ यूनानी ढंग पर सिक्के ढाले गये थे। उनकी तौल एथेन्स के सिक्कों की तौल के समान है। इसी तरह वहाँ के बर्तनों तथा मिट्टी के खिलौनों की बनावट पर भी यूनानी प्रभाव दिखाई देता है। तक्षशिला में मूर्तिकला की गांधार शैली का जन्म हुआ जो पाश्चात्य कला से प्रभावित है। वहाँ पर निर्मित गौतम बुद्ध की मूर्तियों के बाल यूनानी शैली के आधार पर घुँघराले अंकित किये गये हैं। कुछ बौद्ध प्रतिमाओं की नक्काशी यूनान की एपोलो की मूर्तियों की बनावट से साम्य रखती है। यहाँ उल्लेखनीय है कि तक्षशिला के माध्यम से विदेशी भी भारतीय कला तथा संस्कृति से प्रभावित हुये। विदिशा (बेसनगर) के एक लेख से ज्ञात होता है कि इस नगर का विदेशी नागरिक हेलिओडोरस भागवत मतावलम्बी था।

शिक्षा का सबसे प्राचीन भारतीय केन्द्र यही नगर था। गौतम बुद्ध के समय में काशी एवं कोसल के राजकुमार पढ़ने के लिये इसी नगर में भेजे जाते

थे। कोसल के राजकुमार प्रसेनजित की शिक्षा इसी नगर में संपन्न हुई थी। काशी के एक राजकुमार ने अपनी शिक्षा की समाप्ति के उपरान्त अपने आचार्य को एक हजार मुद्राओं की थैली भेंट की थी। वहाँ इन्हें धनुर्विद्या की शिक्षा दी जाती थी। मगध के नरेश बिम्बिसार का अवैध पुत्र जीवक चिकित्साशास्त्र सीखने के लिये तक्षशिला आया हुआ था। उसने यहाँ लगातार सात वर्षों तक इस विषय का अध्ययन किया था। वह शल्यचिकित्सा तथा भैषज्य में बड़ा ही निपुण था। वह बहुत ऊँची फीस लेता था। साकेत के एक धनी सेठ की पुत्रवधू की शिरोवेदना को ठीक करने के लिये उसने सोलह सौ मुद्राओं की थैली भेंट ली थी।

पुष्कलावती

यह उत्तर-पश्चिम भारत के सरहदी नगरों में आता था। यहाँ से एक व्यापारिक मार्ग तक्षशिला, मथुरा, कान्यकुब्ज, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र होते हुये बंगाल के समुद्र-तट पर स्थित ताम्रलिप्ति की ओर निकल जाता था। इसी रास्ते को पाणिनि ने 'उत्तर-पथ' कहा है, जो आधुनिक "ग्रैंड ट्रंक रोड" का स्मरण दिलाता है। पुष्कलावती से पश्चिम की ओर यही मार्ग हिन्दुकुश के दर्रों से होकर बाहरी देशों को निकल जाता था। इसी रास्ते के हिन्दुकुश-पहाड़ वाले भाग को भारतवर्ष के लोग 'हैमवत-पथ' (अर्थात् वह रास्ता जो कि पर्वती क्षेत्र से होकर जाता था) कहते थे।

भारतीय परंपरा के अनुसार इस नगर का नाम भरत के पुत्र पुष्क के नाम के आधार पर पड़ा था। तोलेमी तथा एरियन आदि विदेशी लेखकों के अनुसार इस नगर का क्षेत्रफल विशाल था तथा इसकी आबादी बहुत ही घनी थी। हुयेन-सांग के अनुसार पुष्कलावती का घेरा तीन मील के लगभग था। नागरिक सुखी एवं संपन्न थे। वहाँ अशोक ने एक स्तूप बनवा रक्खा था, जिस पर लोग श्रद्धांजलि अर्पित करते थे।

वैशाली

इसके कुछ पहले उत्तर तथा उत्तर-पूर्व भारत के उन नगरों पर विचार किया गया था, जो आधुनिक उत्तर-प्रदेश की सीमाओं के भीतर स्थित थे। इस स्थान से हम गंगा-घाटी के उन नगरों का परिचय देना प्रारंभ करते हैं, जो आज के बिहार एवं बंगाल प्रान्त के बीच सुशोभित थे। इन्हीं महापुरियों की तालिका में वैशाली का नाम आदर के साथ लिया जाता है। इस नगर का एक

दूसरा नाम विशाला भी था। इसकी स्थापना महातेजस्वी विशाल नामक राजा ने की थी, जो भारतीय परम्परा के अनुसार इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न हुए थे। इसकी पहचान मुजफ्फरपुर जिले में स्थित आधुनिक बसाढ़ से की जाती है। वहाँ के एक प्राचीन टीले को स्थानीय जनता अब भी 'राजा विशाल का गढ़' कहती है।

यह नगर एक दूसरे से कुछ अन्तर पर बनी हुई तीन दीवालों से घिरा था। इनमें से एक मिट्टी, दूसरी ईंट तथा तीसरी पत्थर की बनी रही होगी। प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि नगर की किलेबन्दी यथासंभव इन तीनों कोटि की दीवालों से की जाय ताकि शत्रु के लिये नगर के भीतर पहुँचना असंभव हो सके। संभव है कि यह नगर तीन तरह की खाइयों से घिरा हो जिनका वर्णन कौटिल्य आदि ने किया है; जैसे सूखी खाई, जल तथा कीचड़ से भरी खाई। आशा है कि इस विषय पर वहाँ भविष्य में होने वाली खुदाइयों द्वारा प्रकाश पड़ेगा।

इस नगर के केन्द्रीय भाग में वहाँ के शासक लिच्छवि लोग रहते थे। हुयेन-सांग ने इस हिस्से को 'पैलेससिटी' (अर्थात् वह भाग जहाँ पर राजमहल वर्तमान था) कहा है। इसका घेरा एक मील के लगभग था। अधिक सावधानी बरतने के लिये इसे भी सुरक्षा के साधनों से युक्त कर दिया गया था। इसके भीतर कुछ चुने हुए लोग ही प्रवेश कर पाते थे। शेष जनता को इसके बाहर बसाया गया था। हुयेनसांग के अनुसार पूरे नगर का घेरा १४ मील के लगभग था। इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि नगर के विभाजन की यह प्रथा हड़प्पा की परम्परा का स्मरण दिलाती है, जो गंगा-घाटी में प्रचलित थी। वहाँ भी विशिष्ट जनता दुर्ग वाले हिस्से में तथा साधारण जनता लघु नगर में आबाद की गई थी।

लिच्छवियों का शासन प्रजातंत्रात्मक आदर्शों पर आधारित था। कड़े से कड़े मसलों का निर्णय वे अपने सभागृह में बहुमत द्वारा करते थे। अवस्था की दृष्टि से वे कोई भेद-भाव नहीं मानते थे। सबके राजनीतिक अधिकार एवं प्रभाव बराबर ही थे। इसकी खिल्ली उड़ाते हुये ललित-विस्तर नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि लिच्छवि लोग अपने से ज्येष्ठ, वृद्ध या पद में उच्च व्यक्ति के प्रति भी कोई आदर या शिष्टाचार नहीं दिखाते थे। सबके सब अपने को राजा समझते थे। वे गौतम बुद्ध के बड़े ही भक्त थे। बौद्ध ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि इस नगर में आम्रपाली नामक एक वेश्या रहती थी, जो पुर की शोभा थी। साधारण वेश्याओं की तुलना में उसका स्थान ऊँचा था। बुद्ध के उपदेशों से वह अत्यन्त प्रभावित थी।

लिच्छवि उद्योगी एवं पुरुषार्थी समझे जाते थे। मगध-नरेश अजातशत्रु तक को उनके विनाश की तैयारी में लोहे के चने चबाने पड़े थे। वे बड़े ही अतिथि-परायण थे। जब नगर में कोई भी नवागन्तुक आता था, तो उसका दिल खोल कर वे स्वागत करते थे। उत्सव एवं समारोह में वे खूब भाग लेते थे। आभूषण एवं अच्छे वस्त्रों के वे शौकीन थे। घोड़े, हाथी या पालकी पर वे सज-धज कर आरूढ़ हो राजमार्गों पर निकलते थे।

वे अपने सदाचार-सम्बन्धी नियमों का पालन बड़ी ही कड़ाई के साथ करते थे। उनके समय में वैशाली में बौद्ध धर्म का प्रभाव काफी फैल गया था। वहाँ के भिक्षुसंघ के नैतिक आदर्शों से वे प्रभावित रहे होंगे। वे व्यभिचार को सबसे बड़ा अपराध समझते थे। इस जुर्म में पकड़े हुये व्यक्ति को प्राणदण्ड तक दिया जाता था। इससे छुट केवल उन्हीं पुरुषों या महिलाओं को दी जाती थी, जो प्रायश्चित्त-स्वरूप प्रवज्या ग्रहण कर लेते थे। वे कला एवं संस्कृति के अनन्य प्रेमी थे। यही कारण है कि उनके समय में यह नगर सुन्दर राजमार्गों, महलों, उद्यान, सरोवर तथा मठ आदि से सुशोभित था।

लिच्छवियों में दोष यह था कि उनमें जातिगत भावना परले दर्जे की थी। उन्होंने एक सरोवर बना रक्खा था, जिसमें नहाने का अधिकार एकमात्र लिच्छवि वंशज को ही था। उनका इतना आतंक था कि इसके जल को और कोई छू तक नहीं सकता था। यह सरोवर ऊपर से एक लोहे की जाली से ढका था, जिससे पशु-पक्षी उसके पानी को दूषित नहीं कर सकते थे। बौद्ध ग्रंथ अंगुत्तर-निकाय के वर्णन से ऐसा लगता है कि कुछ लिच्छवि नवयुवक उद्दंड भी थे। वे कोठे-अटारियों के ऊपर से नीचे सड़कों पर चलने वाली सुन्दरियों के ऊपर कभी-कभी धूल या गन्दा पदार्थ फेंक देते थे। इस प्रकार के दुर्व्यवहारों के कारण महिलाओं का घर से बाहर निकलना अत्यन्त दुष्कर हो जाता था। इस बात का स्पष्टीकरण यहाँ आवश्यक है कि इस तरह के नवयुवकों की संख्या अत्यल्प थी। अधिकांश लिच्छवि उदारचरित, शिष्ट एवं गुणसम्पन्न थे।

गुप्त-काल में लिच्छवि-वंश की कन्या कुमारदेवी का विवाह चन्द्रगुप्त प्रथम से हुआ था। इसी राजकुमारी के गर्भ से प्रतापी समुद्रगुप्त पैदा हुआ। कुमारदेवी के नाम का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में हुआ है। राजनीतिक दृष्टि से यह विवाह-संबन्ध महत्त्व से भरा हुआ था। इसके फलस्वरूप सम्पूर्ण लिच्छवि-राज्य गुप्त-राज्य में मिल गया। लगता है कि कुमारदेवी लिच्छवि-राज्य की एक-मात्र वारिस रह गई थी। इस विवाह के स्मारक-रूप में चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी

दोनों के ही नाम पर सिक्के चलाये गये। ये सिक्के एक ही तरह के हैं। इन पर दोनों के नाम और चित्र तथा लिच्छवियों का उल्लेख मिलता है। वैशाली का नगर अब गुप्तों को प्राप्त हो गया। उन्होंने इसे तीरभुक्ति (तिरहुत प्रान्त) की राजधानी बना दी। वहाँ गुप्त वंशीय राजकुमार राज्यपाल की हैसियत से नियुक्त किये गये थे। इसकी पुष्टि पुरातत्त्वीय साक्ष्यों से भरपूर हो जाती है।

बुद्ध को यह स्थान बड़ा ही प्रिय था, अतएव बौद्ध लोग इस नगर की गणना अपने धार्मिक तीर्थ के रूप में करने लगे। लगता है कि अशोक बौद्ध तीर्थों का पर्यटन करता हुआ इस नगर में भी आया था। उसने वहाँ एक स्तम्भ खड़ा किया, जिसके शीर्षस्थान पर एक सिंह-प्रतिमा मिलती है। यह लाट चुनार के बालूदार पत्थर की बनी है। चीनी यात्रियों ने भी इस नगर का वर्णन किया है। फाहियान लिखता है कि इसके उत्तर की दिशा में एक उद्यान था, जिसमें एक दुमंजिला भवन बना हुआ था। लिच्छवियों ने गौतम बुद्ध के विश्राम की सुविधा के लिए इसे बनवा रक्खा था। उसने इस नगर में तीन स्तूपों के वर्तमान होने का उल्लेख किया है। ये उन स्थानों पर बने हुये थे जो गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित थे। हुयेनसांग लिखता है कि इस नगर के आस-पास की जमीन बहुत ही उपजाऊ थी। उसमें केले, आम तथा तरह-तरह के फल-फूल पैदा होते थे। चीनी यात्री का यह कथन प्रामाणिक है। आज दिन भी मुजफ्फरपुर जिले में, जहाँ वैशाली का नगर स्थित था, लीची, केले और आम की फसल बहुत अच्छी होती है। हुयेनसांग लिखता है कि लिच्छवि बड़े ही ईमानदार, सुशिक्षित तथा धर्मपरायण थे। अपनी जबान की रक्षा के लिये वे प्राणों की बाजी लगा देते थे। उसने अशोक-निर्मित स्तम्भ का उल्लेख किया है। उसने भी वहाँ कई स्तूपों के होने का उल्लेख किया है, जिनमें बुद्ध तथा उनके प्रिय शिष्यों की अस्थियाँ गाड़ी गई थीं। जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी का जन्म इसी नगरी में हुआ था, अतएव वे लोग इस पुरी को 'महावीर-जननी' कहते थे। वैशाली के नागरिक उनकी मृत्यु-तिथि के अवसर पर रात्रि को दीपक जलाते थे।

पाटिलपुत्र

इस नगर के नाम से छोटे-बड़े हम सभी भारतवासी परिचित हैं। छठी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर छठी शताब्दी ईसवी यानी लगभग बारह सौ वर्षों तक वहाँ भारतवर्ष की राजधानी स्थित थी और इस लम्बे काल के भीतर इसे लोग हमारे देश का सबसे प्रमुख नगर मानते थे। हमारे प्राचीन शास्त्रों में इसे नगरों की परख की कसौटी कहा गया है। यह नगर सर्वप्रथम कैसे बसाया गया, इस संबन्ध में हमें आभास

बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है। मगध-नरेश अजातशत्रु गंगा तथा सोन नदियों के संगम वाली भूमि से बहुत प्रभावित था। वह लिच्छवियों का उन्मूलन करना चाहता था। उसने सोचा कि अगर इस भूमि में एक किले का निर्माण कर दिया जाय, तो इस कार्य में सहायता मिल सकती है। कौटिल्य लिखता है कि भरसक किले का निर्माण नदियों के संगम पर किया जाय, क्योंकि यह प्राकृतिक साधनों द्वारा सुरक्षित रहता है। यह परम्परा हमारे यहाँ मध्यकाल तक चलती रही। इसी सिद्धान्त को लेकर मुगल-काल में गंगा तथा यमुना के संगम पर सुदृढ़ दुर्ग बनाया गया, जिसका सुरक्षा की दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

गंगा एवं सोन नदियों के संगम वाली भूमि में पहले एक छोटा सा गाँव था, जिसे 'पाटलिग्राम' कहा जाता था। इस स्थान पर अजातशत्रु द्वारा निर्मित दुर्ग, एक विशाल नगर-निर्माण का केन्द्रबिन्दु बन गया। उसके द्वारा नियुक्त चतुर शिल्पियों ने मन्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट योजना के अनुसार इसके चतुर्दिक् नगर बसा दिया। अजातशत्रु के पुत्र उदायी ने मगध-साम्राज्य की राजधानी राजगृह से हटा कर पाटलिपुत्र में ला दी। तदुपरान्त राजनीतिक एवं प्राकृतिक कारणों से नगर की समृद्धि तेजी से बढ़ने लगी और मौर्य-काल आते ही यह भारतवर्ष का अग्रनगर बन गया। इस नगर का थिरकता हुआ वर्णन विदेशी लेखकों ने किया है। वे अपने देश के नगरों से कम, पर इस महानगर से विशष रूप से प्रभावित थे।

ऐसे लेखकों में सबके पहले मेगस्थनीज़ उल्लेखनीय है। वह एक यूनानी राजदूत था, जो चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहता था। उसका पाटलिपुत्र का वर्णन जैसा बोलता हुआ सा है, वैसा अन्यत्र पढ़ने एवं देखने को कम ही मिलता है। वह लिखता है कि इसके चारों ओर एक चौड़ी और गहरी खाई थी, जो जल से लबालब भरी थी। उसे पार करना कठिन काम था। इसी तरह यह पुर एक ऊँची दीवाल से भी घिरा था, जिसमें चौंसठ दरवाजे और पाँच सौ सत्तर बुर्ज बने हुये थे। दीवाल के भीतर छोटे-छोटे छिद्र बने हुये थे। जब आक्रमणकारी द्वारा नगर-घेर लिया जाता था, उस समय मौर्यों के चतुर सैनिक किले के भीतर से ही बाहर की शत्रु-सेना पर बाण चलाते थे। यह सुरक्षा-व्यवस्था नगर-निर्माण-कर्त्ताओं की मौलिक प्रतिभा की पारिचायिका है।

चन्द्रगुप्त का राजमहल नगर के बीचोबीच स्थित था। उसकी शोभा को देख कर मेगस्थनीज़ दंग रह गया था। यह उसे यूनानी और ईरानी महलों

से भी कहीं अधिक सुन्दर लगा। उसका यह वर्णन निष्पक्ष है। यह इस बात का प्रमाण है कि हमारी कला उस समय कितनी बढ़ी-चढ़ी थी। उसके भीतर लम्बे-लम्बे कमरे बने थे, जो स्तंभ-युक्त थे जिनके ऊपर सोने तथा चाँदी की पालिश चढ़ाई गई थी। दीवालों के ऊपर पशु पक्षी आदि की आकृतियाँ बनाई गई थीं जिससे महल का भीतरी दृश्य देखते ही बनता था। राजदरबार का ठाट-बाट और शान-शौकत हर तरह से प्रशंसनीय था। स्थानीय शासन के लिये एक नगर-सभा भी थी, जिसे जनसंख्या का हिसाब, विदेशियों की सुविधा की देखरेख तथा बाज़ारों में प्रयुक्त नाप-तौल आदि की जाँच-पड़ताल करनी पड़ती थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नगर-संबन्धी जिन पदाधिकारियों के उल्लेख मिलते हैं, वे पाटलिपुत्र में नियुक्त मौर्य-कर्मचारियों की ओर संकेत करते हैं।

मौर्य-काल के पश्चात् भारतीय इतिहास में शुंगकाल आरंभ होता है। मौर्यों के सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अन्तिम मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ की हत्या कर डाली और वह स्वयं सिंहासनरूढ़ हुआ। महाभाष्य के लेखक पतंजलि उनके समकालीन थे। उनके वर्णन से लगता है कि पुष्यमित्र शुंग के काल में पाटलिपुत्र का नगर कम से कम दो परकोटों द्वारा अवश्य घिरा हुआ था। उस समय बाख्त्री यवनों के हमले हो रहे थे। उन्होंने मथुरा तथा अयोध्या आदि नगरों को रौंदते हुये पाटलिपुत्र पर घेरा डाल दिया था। लगता है कि पुष्यमित्र शुंग ने उनके संभावित खतरे से बचने के लिये इस नगर के चारों ओर पहले से ही एक चहारदीवारी और उठा दी। सुरक्षा की दृष्टि से यह नितांत आवश्यक था। पुष्यमित्र शुंग बाख्त्री यवनों को मार भगाने में सफल हुआ था। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्', तथा 'युग-पुराण' में उसके यवन-युद्ध के उल्लेख मिलते हैं। ऐसा आभास होता है कि यवनों के विरुद्ध उसने कम से कम दो लड़ाइयाँ अवश्य जीतीं और इन विजयों के फलस्वरूप उसने दो अश्वमेघ यज्ञ भी किये। इनमें से एक यज्ञ में पतंजलि ने प्रधान पुरोहित का काम किया था। संभव है कि यह यज्ञ पाटलिपुत्र में ही हुआ हो।

गुप्तों के समय में चीनी यात्री फाहियान इस नगर में आया था। इसने इस नगर की प्रशंसा मेगस्थनीज़ से कुछ कम नहीं की है। राजमहल को देखते ही उसने दाँतों तले उँगलियाँ दबा लीं। उसे ऐसा लगा मानों इसका निर्माण स्वयं देवताओं ने ही अपने हाथों द्वारा किया था। मनुष्य द्वारा उस प्रकार का आश्चर्यजनक निर्माण उसके अनुसार संभव नहीं हो सकता था। इस महल में पत्थर की कारीगरी बड़े ही ऊँचे दर्जे की थी। इसके खंभों और दीवालों

में सुन्दर आकृतियों का अंकन किया गया था, जिसका मुकाबला उसे और किसी देश की कला में नहीं मिल सका। फाहियान के इस वर्णन से लगता है कि चीन की वास्तुकला की समता में हमारे देश का स्थापत्य कहीं आगे था।

वह लिखता है कि भारतवर्ष के नगरों में यह महानगर सर्वोत्तम था। नागरिक सुखी एवं सम्पन्न थे। वैश्य जाति के लोग तो बड़े ही उदार थे। वे धनी-मानी थे, और दान करने में कभी थकते न थे। उन लोगों ने दान-गृह खोल रखा था, जहाँ पर बराबर ही विधवा, अनाथ, लूले और लँगड़े, भोजन एवं वस्त्र भरण-पोषण के लिये पाते रहते थे। उनके द्वारा स्थापित औषधालयों में रोगियों की चिकित्सा निःशुल्क होती थी। इसी तरह शिक्षा-संस्थानों में भी उन्होंने प्रचुर दान दिया था। दाताओं के नाम उनकी दीवालों पर उत्कीर्ण किये गये थे। नगर के भीतर नाना देवालय मौजूद थे। मठ में रहने वाले भिक्षुओं का आचार-व्यवहार अनुकरणीय था। वे मांस-मदिरा से परहेज रखते थे और लहसुन-प्याज तक नहीं खाते थे। वे स्वाध्याय तथा धार्मिक चर्चाओं में भूले रहते थे।

नगर-समाज उत्सवों का प्रेमी था। लोग रथयात्रा का उत्सव बड़े ही धूम-धाम से मनाते थे। यह बैशाख की अष्टमी को हुआ करता था। इस अवसर पर लोग देवी-देवताओं की भव्य प्रतिमाओं को रथों पर सजा देते थे। रथ संख्या में कई होते थे एवं उनकी विशेष सजावट की जाती थी। उसके ऊपरी हिस्से में रेशम की ध्वजा, चाँदनी और कलँगियाँ लगी रहती थीं। इन रथों के साथ नागरिकों का एक लम्बा जलूस निकलता था। इसमें सभी तपके के गृहस्थ तथा यहाँ तक कि साधु-संन्यासी भी सम्मिलित होते थे। साथ में गाने-बजाने की टोलियाँ भी होतीं थीं। जलूस बड़े उत्साह के साथ नगर के प्रत्येक भाग में भ्रमण करता हुआ पुनः उसी स्थान को लौट आता था, जहाँ से यह यात्रा आरंभ होती थी। इस अवसर पर पूरे नगर में समस्त रात्रि दीये जलाये जाते थे। फाहियान के वर्णन से लगता है कि गंगा-घाटी के अन्य नगरों में भी यह उत्सव बड़े ही धूम-धाम से मनाया जाता था। भारतीय संस्कृति के प्रसार के साथ यह प्रथा मध्य एशिया भी पहुँची। वहाँ के बड़े नगरों में इस तरह की रथयात्रा निकलती थी। ह्वेनसांग ने भी वहाँ के नागरिकों के व्यवहार तथा रहन-सहन की प्रचुर प्रशंसा की है। उसके अनुसार यह नगर १५ मील के क्षेत्रफल में बसा हुआ था।

उसके यात्रा-विवरण में पाटलिपुत्र-नाम की व्युत्पत्ति के विषय में एक विवरण प्राप्य है, जो तत्कालीन किसी भारतीय दन्त-कथा पर आश्रित प्रतीत होता है।

इस विवरण के अनुसार कुछ नवयुवक छात्र वहाँ पाटलि-वृक्ष के नीचे अपने एक मित्र का मिथ्या विवाह करने के निमित्त एकत्र हुये। इस वृक्ष का स्त्री नाम होने के कारण उसे उसकी काल्पनिक भार्या बनाया गया। विवाह समाप्त होने के उपरान्त दूसरे दिन बहुत तड़के ही इस मित्र को छोड़ कर अन्य सभी छात्र अपने-अपने घर चले गये। पर, वह इस स्थान के प्रति नव आकर्षण के कारण वहाँ रुक गया। अन्धकार होते ही पाटलि-वृक्ष का देवता प्रकट हुआ। उसने एक परम सुरूपा युवती भार्या-रूप में इसे प्रदान किया। कालान्तर में इससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसके लिये पाटलि-वृक्ष ने एक सुन्दर भवन का निर्माण करा दिया। यही भवन आगे चल कर एक समृद्धिशाली नगर का केन्द्रबिन्दु बन गया। पाटलि-वृक्ष के देवता के वरदान-स्वरूप उत्पन्न पुत्र के घर के चतुर्दिक् इस पुर के बस जाने के कारण ही यह पाटलिपुत्र नाम से शीघ्र विश्रुत हो गया। हुयेनसांग लिखता है कि राजप्रासाद के प्रांगण में बहुत से पुष्प खिले थे। इस कारण यह नगर 'कुसुमपुर' नाम से भी प्रसिद्ध था।

नगर के भीतर गंगा और सोन नदियों के किनारे की बस्तियाँ बड़ी ही चित्ताकर्षक थीं। लगता है कि कोई राजप्रासाद गंगा के तट पर भी स्थित था। प्राचीन ग्रन्थों में इसे 'सुगांग प्रासाद' (अर्थात् वह सुरम्य महल, जो गंगा के किनारे निर्मित था) कहा गया है। कौमुदीमहोत्सव नामक नाटक में कल्याणवर्मा नामक मगध के एक नवयुवक राजा का राज्याभिषेक इसी महल में दिखाया गया है। गंगा के घाट बड़े ही महत्त्वपूर्ण थे। इनमें एक घाट 'गौतम-तीर्थ' कहलाता था। परम्परा यह थी कि अन्तिम बार पाटलिपुत्र से लौटने पर उन्होंने इसी घाट से गंगा नदी को पार किया था।

विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक में भी इस नगर का उल्लेख हुआ है। इस ग्रन्थ के अनुसार जब इसके ऊपर बाहरी हमले होते थे, उस समय हाथियों के झुण्ड नगर के दरवाजे पर खड़े कर दिये जाते थे ताकि भीतर प्रवेश चाहने वाले शत्रु-सैनिकों को वे वहीं कुचल डालें। नगर की सुरक्षा का यह एक अच्छा उपाय था। प्रधान नगर-द्वारों के समीप चुंगी-घर बने होते थे, जिन पर सौदागरों के सूचनार्थ ऊँची झण्डियाँ फहराती रहती थीं। बाहर से आने वाले सौदागरों से शुल्क यहीं वसूल कर लिया जाता था और इस मामले में धोखा देकर निकल जाना बड़ा ही मुश्किल था। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार अशोक के समय में इस तरह चालीस लाख मुद्राओं की आमदनी प्रति दिन हुआ करती थी। इन्हीं दरवाजों में एक 'गौतमद्वार' कहलाता था। लगता है कि बुद्ध के जीवन की किसी घटना से यह दरवाजा सम्बन्धित था।

अशोक और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में इस नगर में उल्लेखनीय घटनायें घटीं। उनके समय में जितनी महत्त्वपूर्ण योजनायें बनीं, उनका केन्द्र-बिन्दु पाटलिपुत्र ही था। अशोककालीन तृतीय बौद्ध संगीति इसी नगर में हुई थी। उसने अपने महामात्रों और राजदूतों को विभिन्न दिशाओं में यहीं से भेजा था। उसकी लाटों के ऊपर जो लेख मिलते हैं, वे पहले इसी नगर में तैयार किये गये होंगे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में इस नगर में कवियों और लेखकों का जमघट रहता था। कुछ विद्वानों का मत है कि कालिदास इन्हीं के दरबारी कवि थे। गुप्तकालीन कुछ कवियों के नाम प्रशस्तियों में मिलते हैं। वे पाटलिपुत्र की विभूति थे। समुद्रगुप्त का अमात्य हरिषेण जिसकी उच्च काव्य-कला की स्मृति प्रयाग-प्रशस्ति हमें बराबर दिलाती रहेगी, इसी नगर में रहता था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का परराष्ट्र मंत्री वीरसेन व्याकरण, दर्शन तथा राजनीति का मर्मज्ञ था। वह कविता के क्षेत्र में ऊँची दखल रखता था। उदयगिरि के लेख के अनुसार वह पाटलिपुत्र का नागरिक था। आर्यभट्ट की शिक्षा इसी नगरी में सम्पादित हुई थी। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा है कि इस महानगर में विद्वानों की मण्डली रहती थी, जिसका काम कवियों और लेखकों की कृतियों की परीक्षा लेना था। यदि वह किसी की रचना को मान्यता प्रदान कर देती थी, तो वह एक प्रामाणिक ग्रन्थ मान लिया जाता था। पाणिनि तथा पतंजलि जैसे पहुँचे हुये ग्रन्थकारों की कृति की परीक्षा पाटलिपुत्र की विद्वन्मंडली द्वारा ली गई थी।

तिजारती मार्गों से संबन्धित होने के कारण इस नगर का व्यापारिक विकास हमेशा ही होता रहा। यहाँ पर दूर भागों से थोक माल की गाँठें आती थीं, जो प्रामाणिकता के लिये मुहरबन्द हुआ करती थीं। फुटकर माल खरीदने वाले थोक-विक्रेताओं के यहाँ जब आते थे, तो उनके विश्वास के लिये सामने ही मुहरें तोड़ दी जाती थीं और वे अपने जरूरत का माल छाँट लेते थे। इस कारण इस नगर को 'पुटभेदन' (जहाँ मुहरों को तोड़ा जाय) कहा जाने लगा। फाहियान लिखता है कि इस नगर की बाज़ारों में क्रय-विक्रय का सिलसिला बराबर ही चला करता था। छोटे खरीद-फरोख्त में कौड़ियाँ चलती थीं। परन्तु बड़े आर्थिक व्यवहारों में सिक्के चलते थे। इस नगर के बहुमुखी विकास के कारण इसे छठी शताब्दी तक भारतवर्ष का आदर्श पुर माना जाता था। सातवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग में हर्षवर्द्धन ने अपनी राजधानी कान्यकुब्ज में स्थापित कर दी और तब से लेकर बारहवीं शताब्दी तक विभिन्न राजवंशों ने अपना दरबार यहीं पर कायम

रखा। इसका कारण यही हो सकता है कि कान्यकुब्ज अधिक केन्द्र में पड़ता है। तदुपरान्त इस नगर की महत्ता क्रमशः क्षीण होती गई। लगता है कि किसी समय आकस्मिक बाढ़ भी आयी, जिससे इस पुर का अधिकांश भाग बहा दिया गया। इस नगर के अवशेष पटना के समीप स्थित आधुनिक कुमराहर और बुलन्दीबाग में मिले हैं, जहाँ पर उत्खनन-कार्य हो रहा है। आशा है कि पुरातत्व-साक्ष्य किसी समय इसके अतीत वैभव पर और अधिक प्रकाश डाल सकेगा।

राजगृह

इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यहाँ पर किसी समय राजधानी अवश्य रही होगी। इसका आधुनिक प्रतिनिधि राजगिरि, जो पटना के समीप स्थित है, बड़ा ही चित्ताकर्षक स्थान है। अपने गरम पानी के झरनों तथा सहज छटा के लिये यह दर्शकों को बरबस आकृष्ट कर लेता है। इसके अतीत गौरव का इतिहास कुछ कम रोचक नहीं है। इस बात का निर्देश पहले किया जा चुका है कि मगध की पहली राजधानी यहीं पर विद्यमान थी। अपने ढंग का यह एक निराला भारतीय शहर था। चारों ओर से यह पाँच पर्वत-श्रेणियों द्वारा घिरा हुआ था। ये ही गिरि-शृंखलायें प्राकृतिक चहारदीवारी का काम करती थीं। इसीलिए इसको गिरिनगर भी कहा जाता था। प्रतीत होता है कि इसकी भौगोलिक स्थिति से प्रभावित होने के कारण ही यहाँ पर मगध-नरेशों ने अपनी राजधानी बनाई थी।

महाभारत में 'गिरि-दुर्ग' (पहाड़ी किला) का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ में दुर्ग के छह प्रकारों में इसकी भी गणना की गई है। कौटिल्य ने लिखा है कि बाहरी हमलों से सुरक्षित होने के कारण गिरि-दुर्ग बहुत उत्तम कोटि का नगर होता है। राजगृह की गणना हम गिरि-दुर्ग की कोटि में कर सकते हैं। संभवतः भारतवर्ष में इस तरह का सबसे प्राचीन और उत्तम नगर यही था। इसका प्राचीन नाम 'गिरिव्रज' था। इस नाम की व्युत्पत्ति का कारण गिरि-शृंखलाओं द्वारा इसका परिवेष्ठन हो सकता है। महाभारत में राजगृह की पर्वतमालाओं को सिद्धों और मुनियों की खान कहा गया है। वहाँ के अवशेष प्रमाणित करते हैं कि इस नगर के घर गोलाकार थे। उल्लेखनीय है कि आर्य लोग अपने घरों को वृत्ताकार बनाते थे। इससे स्पष्ट है कि राजगृह के भवनों का आकार-निर्णय वैदिक युग की कला-परम्परा के अनुसार हुआ था।

छठी शताब्दी ई० पू० में वहाँ बिम्बिसार नामक राजा राज्य कर रहा था। वह बड़ा ही नीति-निपुण था। वैशाली के लिच्छवियों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर उसने अपनी शक्ति बढ़ा ली थी। अगर बौद्ध ग्रन्थों का दावा सही है, तो वह गौतम बुद्ध का शिष्य था। वे इस नगर में कई बार आ चुके थे। उनके उपदेशों से प्रभावित होने के कारण नागरिकों में अधिकांश भिक्षु-संघ के सदस्य बन गए थे। इस पर कुछ लोग बुद्ध को दोष देने लगे कि उन्होंने अनेक परिवारों को विनष्ट कर दिया। इस नगर में बेलुवन नामक एक उद्यान था, जो बिम्बिसार को बहुत ही पसन्द था। उसने इसे भिक्षु-संघ को दान कर दिया था। गौतम बुद्ध जब राजगृह आते थे, तो इसी वन में रुकते थे। 'बुद्ध-चरित' नामक ग्रन्थ के अनुसार किसी समय गौतम बुद्ध इस नगर में आये थे। इस अवसर पर नागरिकों की प्रसन्नता का कोई ठिकाना नहीं था। उन्होंने उनके स्वागत में अपने नेत्रों के पाँवड़े बिछा दिए। सड़कों के दोनों किनारों पर राजगृह-वासियों के लम्बे ताँते लग गए। उनके दर्शनों के लिए लालायित महिलाएँ कोठे-अटारियों पर चढ़ गईं। कुछ नागरिकों ने उन्हें पुष्पों की मालाएँ पहनायीं और कुछ ने विनीत भाव से उन्हें प्रणाम किया। इस समय सबके सब श्रद्धा-भाव से अवनत थे। गौतम के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण ही प्रथम बौद्ध संगीति यहीं पर हुई।

मगध की राजधानी यहाँ से पाटलिपुत्र को हटा देने के कारण राजगृह की महत्ता क्रमशः घटने लगी। जिस समय फाहियान यहाँ पहुँचा, उस समय यह उजड़ चुका था। हुयेनसांग के आगमन के अवसर पर वहाँ चारों ओर केवल खण्डहर ही दिखाई दे रहे थे। उसने इस नगर के प्राचीन महत्त्वपूर्ण स्थानों तथा स्मारकों का उल्लेख किया है। वहाँ पर उसने एक स्तूप देखा था, जिसका निर्माण अजातशत्रु ने कराया था। उसमें गौतम बुद्ध की अस्थियाँ रखी हुई थीं। उसके कुछ दूर एक भवन के अवशेष मौजूद थे, जिसे अपने समय के सबसे बड़े राजवैद्य जीवक ने बनवाया था। उसमें कभी-कभी बुद्ध रुका करते थे। इसके समीप एक अन्य भवन का खण्डहर था, जिसमें परम्परा के अनुसार जीवक स्वयं रहा करता था। हुयेनसांग ने राजगृह में विपुलो नामक गिरिश्रृंग का उल्लेख किया है। इसका भारतीय नाम विपुल-श्रृंग है, जिसका वर्णन महाभारत में हुआ है। चीनी यात्री के अनुसार वहाँ गरम पानी के कई झरने थे। लोगों का ऐसा विश्वास था कि वहाँ पर स्नान करने से चर्म रोगी या पुराने से पुराने असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति भी चंगा हो जाता था। इस कारण लोग वहाँ दूर भागों से

नहाने के लिए आते थे। चीनी यात्री के अनुसार इस नगर का दूसरा प्रचलित नाम 'कुशाग्रपुर' था। वह लिखता है कि वहाँ उत्तम कोटि की कुश-घास पैदा होती थी। संभव है कि इस नाम की व्युत्पत्ति का कारण यही रहा हो।

मिथिला

जब हम कोसलपुरी अयोध्या का नाम लेते हैं, उस समय विदेह-पुरी मिथिला का भी स्मरण हो आता है। ये दोनों ही धार्मिक पुरियाँ हर काल में हमारे लिए प्रेरणा एवं संबल का स्रोत रही हैं। इन दोनों पुरियों का मधुर संबन्ध एक जानी सुनी घटना है। मिथिला का उल्लेख महाभारत, रामायण, पुराण तथा जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में हुआ है। जातकों के अनुसार यह नगरी तीन तरह की खाइयों से घिरी हुई थी :—(१) उदक-परिखा (जल से भरी खाई), (२) कर्दम-परिखा (कीचड़ से भरी खाई) तथा (३) शुष्क-परिखा (सूखी खाई)। यहाँ उल्लेखनीय है कि इन तीनों कोटि की परिखायें प्रायः उन्हीं नगरों में होती थीं, जिनका विशेष महत्त्व हुआ करता था। इसके पहले निर्देश किया जा चुका है कि वैशाली नगर भी इन तीनों तरह की खाइयों से घिरा हुआ था। ये दोनों ही नगर बुद्ध-काल में वज्जिसंघ के अन्दर आते थे। अतएव बहुत संभव है कि उसी समय इन दोनों ही नगरों में सुरक्षा की दृष्टि से तीनों ही तरह की परिखाएँ खोद दी गईं।

हमारे साहित्य एवं मौखिक परम्पराओं में मिथिला के राजा जनक उतना ही जीवित हैं, जितना कि अयोध्या के राजा दशरथ। वे अपनी दार्शनिक अभिरुचि तथा अनासक्ति के लिये प्रसिद्ध थे। महाभारत में एक कथा आती है जिसके अनुसार मिथिला का नगर भयंकर अग्निदाह में खाक होने लगा। इस समय जनक जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने बड़ी ही अनासक्ति के साथ लोगों से कहा कि यह सही है कि मेरी राजधानी आज जल कर खतम होने जा रही है पर मुझे इस बात की कोई चिन्ता नहीं है, क्योंकि इसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं जल रहा है। रामायण के अनुसार मिथिला के नागरिक शिष्ट एवं अतिथिपरायण थे। इस ग्रन्थ के अनुसार महर्षि विश्वामित्र राम एवं लक्ष्मण को साथ लेकर चार दिनों की यात्रा करने के पश्चात् मिथिला पहुँचे थे। इसी तरह महाभारत के सभापर्व में वर्णन मिलता है कि कृष्ण अपने साथ पाण्डवों को लेकर इस नगर में आये थे। मिथिला के प्रसंग में इस तरह की और भी मधुर घटनाओं की स्मृतियाँ हमारे प्राचीन साहित्य के पन्नों में सुरक्षित हैं। वहाँ के नागरिक कला और संस्कृति के प्रेमी थे। महिलाएँ बहुमूल्य आभूषण तथा सुगन्धित द्रवों

को व्यवहार में लाती थीं। नगर के भीतर ऊँची अट्टालिकाएँ, रम्य चत्वर, मनोरम वाटिकाएँ एवं उद्यान मौजूद थे। मिथिला नाम कैसे पड़ा, इस संबन्ध में पुराणों में एक भारतीय परम्परा उल्लिखित मिलती है। इसके अनुसार इस नगर को मिथि नामक राजा ने बसाया। वे इस पुरी को जन्म देने में समर्थ सिद्ध हुए, अतएव वे जनक नाम से प्रसिद्ध हो गए।

गंगा-घाटी के नगरों के साथ मिथिला का व्यापारिक संबन्ध सदा से ही था। श्रावस्ती एवं काशी के व्यापारी यहाँ आते थे। वहाँ के नागरिक बनारसी सिल्क के बड़े ही शौकीन थे। जातक ग्रन्थों के अनुसार मिथिला-नरेशों के दरबारी काशी के सिल्क की धोती, पगड़ी और मिर्जई पहनते थे। मिथिला-नागरिक बड़े ही उत्साही थे। वहाँ के जिज्ञासु नवयुवक अध्ययन के लिये पहले तक्षशिला जाया करते थे, जो इस नगर से सैकड़ों मील की दूरी पर स्थित था। अतएव लगता है कि बहुत प्रारम्भ में मिथिला-पुरी शिक्षा-केन्द्र न थी। पर, बाद में वहाँ बौद्धिक विकास बड़ी शीघ्रता के साथ आरंभ हुआ। बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित होने के कारण इस नगर का वातावरण शान्तिमय था। फलतः वहाँ शिक्षा एवं उच्च संस्कृति की अभिवृद्धि संभव हुई। यह पुरी पंडितों की खान समझी जाने लगी। मिथिला-मण्डल के विद्वानों में मण्डनमिश्र उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने शंकराचार्य से टक्कर लिया था। जयदेव एवं विद्यापति मिथिला की विभूति थे। इनके गेय पद आज दिन भी रसिकों को आह्लादित करते हैं।

कुछ दिनों तक यहाँ तीर-भुक्ति (तिरहुत) की भी राजधानी स्थित थी। इसीलिये लोग कभी-कभी इस पुर को तीरभुक्ति भी कहते थे। इस नाम के पड़ने का कारण यह था कि यह प्रदेश बड़ी गंडक और बागमती, इन दोनों नदियों के तीर (तटों) के बीच स्थित था। आज के युग में भी हमारे धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन में मिथिला का एक विशेष स्थान है। इस नगर का प्रतिनिधित्व आधुनिक जनकपुर करता है, जिसके दर्शनार्थ भारतवासी दूर भागों से भी प्रभूत संख्या में वहाँ एकत्र होते हैं।

ताम्रलिप्ति

यह नगर बंगाल के समुद्र-तट पर स्थित था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूर्वी समुद्र-छोर पर स्थित सभी भारतीय बन्दरगाहों में सर्वश्रेष्ठ यही था। यहाँ पर ताड़ (तमाल-वृक्षों) का एक वन था। इसीलिये इसे 'तमालिनी' भी कहा जाता था। जावा, सुमात्रा तथा चीन आदि पूर्वी देशों के साथ जहाजरानी का सारा

काम इसी बन्दरगाह से संचालित होता था। चीन से यहाँ पर रेशमी वस्त्र आता था। इसी प्रकार पूर्वी द्वीप समूह से वहाँ लवंग तथा मसाले आदि आते थे। विदेशी लेखकों ने इस बन्दरगाह का वर्णन किया है। फाहियान के विवरण से लगता है कि यहाँ बौद्ध धर्म का काफी प्रचार था। वहाँ पर कई मठ वर्तमान थे, जिनमें बौद्ध ग्रन्थों का अनुशीलन भिक्षु लोग किया करते थे। इस नगर में फाहियान दो वर्षों तक रुक गया था। उसने वहाँ कई बौद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपि प्रस्तुत की थी।

जब वह स्वदेश लौटने लगा, उस समय वह इसी बन्दरगाह पर एक बड़े जहाज में बैठा था। इस जहाज के साथ अन्य कई छोटे-छोटे जहाज भी थे। वहाँ से उसने सर्वप्रथम लंका की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में एक बार भयंकर तूफान आया। उस समय इसके बचने की कोई भी आशा नहीं थी। यात्री प्राण-रक्षा के लिये प्रार्थना करने लगे। नाविकों ने धैर्य दिखाया और उनके अथक परिश्रम से जहाज किसी तरह डूबने से बचाया जा सका। लंका से होकर जावा होते हुए वह स्वदेश वापस लौट गया था। भारत से चीन जाने का यह एक चक्करदार रास्ता था। फाहियान संभवतः लंका-दर्शन भी करना चाहता था। इसीलिए उसने इस मार्ग को चुना होगा।

हुयेनसांग का ताम्रलिप्ति-वर्णन कुछ कम उपयोगी नहीं है। उसके आगमन के अवसर पर भी वहाँ बौद्ध मठ मौजूद थे, जिनमें रहने वाले भिक्षु लोग सरल एवं स्वाध्यायी थे। उस समय उसने वहाँ एक स्तूप भी देखा था, जो स्थानीय परम्परा के अनुसार अशोक द्वारा बनवाया गया था। वह लिखता है कि ताम्र-लिप्ति के आसपास की जमीन बहुत ही उपजाऊ थी और वहाँ की जलवायु नम थी। इस नगर का घेरा लगभग दो मील था। सातवीं सदी के अन्तिम भाग में चीन से इत्सिंग नामक यात्री आया। वह भी इसी बन्दरगाह पर उतरा था।

समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में बंगाल का समुद्री तट, जहाँ ताम्रलिप्ति का बन्दरगाह स्थित था, समतट कहा गया है। इसके अनुसार वहाँ का नृपति समुद्रगुप्त को कर देता और उसकी अधीनता स्वीकार करता था। अन्य भारतीय लेखों से लगता है कि वहाँ पर गौड़ लोग रहते थे। ये लोग व्यापार-प्रसंग में समुद्रयात्राएँ किया करते थ। दक्षिण-पूर्व एशिया के एक लेख में गौड़ों को 'महा-नाविक' कहा गया है। ईशानवर्मा के शासनकालीन हरहा के लेख में गौड़ों को समुद्राश्रयी (अर्थात् समुद्र ही हो घर जिसका) कहा गया है। इन सन्दर्भों से लगता है कि गौड़ लोग जहाज चलाने के काम में बड़े ही निपुण होते थे। उत्तर-प्रदेश के कुछ पूर्वी जिलों में गौड़िया या गोड़िया लोग रहते हैं, जो मल्लाह का काम

करते हैं। नौका चलाने के काम में वे दक्ष होते हैं और तिजारती सिलसिले में अपनी नावों को लेकर वे बहुधा बंगाल की ओर जाते हैं। लगता है कि इनका सम्बन्ध वंग-देश के गौड़ लोगों से था। प्राचीन गौड़ सामरिक प्रवृत्ति के भी हुआ करते थे। उनकी बढ़ती हुई सैन्यशक्ति का उल्लेख अभिलेखों में भी हुआ है। संभव है कि ताम्रलिप्ति-नगर में गौड़ लोग अधिक संख्या में रहते हों और देश के आयात-निर्यात के काम में उनका बहुत बड़ा हाथ रहा हो। इस नगर का आधुनिक नाम तामलुक है, जो मिदनापुर जिले में स्थित है।

प्राग्ज्योतिषपुर

हम सभी असम के गौहाटी नगर से भली भाँति परिचित हैं। पर, कम ही लोग इस बात को जानते हैं कि इसका ही प्राचीन नाम प्राग्ज्योतिषपुर था। यह नाम बदल कर गौहाटी नाम कैसे पड़ा, इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित बताना संभव नहीं है। इसके पीछे कोई ऐतिहासिक कारण हो सकता है, जो अब भी एक तरह से अज्ञात ही है। असम को प्राचीन काल में अधिकतर कामरूप कहते थे। इसका दूसरा नाम प्राग्ज्योतिष भी था। इसीलिये इसके प्रधान नगर का नाम प्राग्ज्योतिषपुर पड़ गया। प्राग्ज्योतिष या प्राग्ज्योतिषपुर नामों की व्युत्पत्ति बड़ी मनोरंजक है।

भविष्य पुराण में कथा आती है कि कृष्णपुत्र साम्ब कुष्ठरोग से पीड़ित हुए। उन्होंने जब सूर्योपासना आरंभ की, तो किञ्चित् काल में ही वे इस व्याधि से उन्मुक्त हो गए। उन्होंने चेनाब नदी के तट पर एक सूर्य-मन्दिर का निर्माण किया। पर, कठिनाई यह पड़ी कि ब्राह्मणों ने उसमें पुरोहित का काम करने से अस्वीकार कर दिया। इस पर उन्होंने अपने मन्त्रियों की राय से ईरान से मग पुरोहितों को बुलवाया। उनके निमंत्रण पर अठारह मग परिवार यहाँ आए। वे सबके सब सूर्योपासक थे। उक्त मन्दिर में वे पुरोहित का कार्य करने लगे, अतएव भारत में मग ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध हो गए। ईरान से आने के कारण वे शाकद्वीपी भी कहलाते थे। यह देश हमारे प्राचीन साहित्य में 'शक-द्वीप' नाम से प्रसिद्ध था। आज के सकलद्वीपी ब्राह्मण इन्हीं शाकद्वीपियों के वंशज हैं। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि इन सकलद्वीपी ब्राह्मणों में शादी-विवाह केवल अपने ही वर्ग में होता है। कान्यकुब्ज या सरयूपारीण ब्राह्मण इन्हें अपने से अलग मानते हैं। यहाँ तक कि खान-पान के मामले में भी कुछ पहले ये लोग सकलद्वीपियों से परहेज करते थे।

इससे स्पष्ट है कि ये ब्राह्मण मूलतः भारतीय नहीं थे, जिस कारण इनसे उपर्युक्त भेदभाव किये जाते थे।

शाकद्वीपी ब्राह्मण ज्योतिष का काम अच्छा जानते थे। ये ग्रहोपचार करते थे और दैवज्ञ (अर्थात् भविष्यवक्ता) समझे जाते थे। ज्योतिष की यह परम्परा आज के सकलद्वीपी ब्राह्मणों में चली आ रही है। ये ब्राह्मण फैलते हुये, असम में आये और उनके साथ वहाँ ज्योतिष तथा झाड़-फूँक का प्रचार हुआ। इस नगर का प्राग्ज्योतिषपुर नाम पड़ने का कारण इससे शाकद्वीपियों का सम्बन्ध था (अर्थात् वह नगर, जो पहले ज्योतिष का केन्द्र था)। वहाँ पर कामाख्या-देवी का एक मन्दिर था। अतएव इसका दूसरा नाम कामाख्या भी पड़ गया। आज के जादूगर कामरू-कामाख्या का अक्सर उल्लेख करते हैं। इससे तात्पर्य कामरूप (असम) तथा कामाख्या (प्राग्ज्योतिषपुर) से है, जहाँ जादू-मंत्र का प्रयोग प्रचुर रूप में होता था।

यहाँ का नरेश भास्करवर्मा बड़ा ही प्रतापी था। वह कान्यकुब्ज-नरेश हर्ष का अभिन्न मित्र था। उसने जीवन-पर्यन्त हर छोटी-बड़ी बात में हर्ष का हमेशा ही साथ दिया। वह शिव का कट्टर भक्त था। हुयेनसांग के वर्णन से लगता है कि इस नगर में बौद्ध धर्म का प्रचार कम ही हुआ था। भास्करवर्मा का निमंत्रण पाने पर वह असम गया हुआ था। उसने प्राग्ज्योतिषपुर में अशोक की लाट, स्तूप या किसी मठ के होने की चर्चा नहीं की है। उसके अनुसार यह नगर डेढ़ मील के क्षेत्रफल में बसा हुआ था। वहाँ की जमीन नम एवं उपजाऊ थी। यहाँ के निवासी काले रंग और नाटे कद के थे। वे सच्चे और बड़े ही ईमानदार थे। उनकी भाषा गंगा-घाटी के नगरों से भिन्न थी। वहाँ के नागरिक अधिकतर कृष्ण की पूजा करते थे। इस नगर के पूरब की दिशा में पर्वत-श्रेणियाँ थीं। वहाँ बिच्छू और साँप के काटने का खतरा अधिक था, अतएव उन्हें कोई पार करने का जल्दी साहस नहीं करता था। उसके अनुसार असम के जंगलों में हाथी बहुतायत में प्राप्य थे। वे युद्ध तथा शिकार में खूब काम आते थे।

काञ्ची

यह न केवल दक्षिणी भारत, अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष का एक श्रेष्ठ पुर था। इसकी पहचान आधुनिक काञ्जीवरम् से की जाती है। यहाँ इतिहास-प्रसिद्ध पल्लव-राजवंश की राजधानी सदियों तक वर्तमान थी। हमारे देश की सात मोक्ष-दायिका पुरियों में इसकी गणना होती थी। काञ्चीमाहात्म्य नामक ग्रन्थ में इसी नगर को भारतवर्ष का सबसे उत्तम तीर्थ कहा गया है। इसके अनुसार वहाँ रहने

पर कलंक धुल जाता है। प्राचीन ग्रन्थों में इस पुर का मनोरम वर्णन मिलता है। अमर कवि धोयी ने 'पवनदूत' नामक गीतिकाव्य की रचना की, जो कालिदास के मेघदूत का स्मरण दिलाता है। धोयी काञ्चीनगरी से बड़े ही प्रभावित लगते हैं। उनके अनुसार काञ्चीपुर दक्षिणापथ का भूषण था और अपनी विलक्षण शोभा के कारण देवनगर के भी गर्व को हर लेता था। काञ्ची-पुराण में कहा गया है कि शायद ही कोई ऐसा कवि हुआ है, जो कि इसकी गरिमा से प्रभावित न हुआ हो।

पतंजलि ने महाभाष्य में 'काञ्चीपुर' शब्द की व्याख्या समझाई है। उनका समय आज से, कुछ नहीं तो, बाइस सौ साल पहले रहा होगा। उनके भौगोलिक वर्णन से लगता है कि वे सम्भवतः उत्तरी भारतवर्ष के निवासी थे। पतंजलि के साक्ष्य से स्पष्ट है कि इतने प्रारंभिक काल में इस नगर की ख्याति विन्ध्यपर्वत-मालाओं के उत्तरी क्षेत्रों में भी प्रतिपादित हो चुकी थी। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में भी काञ्ची का उल्लेख आता है। उस समय वहाँ विष्णुगोप नामक राजा राज्य करता था। तमिल ग्रंथों के अनुसार यह नगर शास्त्रीय सिद्धान्तों पर बसाया गया था। विभिन्न जातियों के लोग पृथक् पुर-भागों में रहते थे। इसी तरह एक प्रकार के व्यवसाय का अनुसरण करने वाले भरसक नगर के एक ही हिस्से में रहा करते थे। राजमार्ग चौड़े थे। उन पर कई वाहन एक ही साथ आ-जा सकते थे।

पल्लव-नरेशों ने इसके सीमा-प्रान्त पर खुले क्षेत्रों में सैनिक शिविर खोल रखे थे, जहाँ लोगों को युद्ध-संबन्धी शिक्षाएँ दी जाती थीं। इसी कारण पल्लव-सैनिक विभिन्न रण-पद्धतियों में बड़े ही कुशल थे। इस नगर में हथियार बनाने के कारखाने भी थे। पल्लव-सम्राट् कला और संस्कृति के प्रेमी थे। उन्होंने वास्तुकला की कई शैलियों को जन्म दिया। पल्लव-कला की विशेषताओं ने दक्षिण-पूर्व एशिया के स्थापत्य को भी प्रभावित किया था। पल्लव-मन्दिरों के नमूने मिले हैं, जिनमें पत्थर की कारीगरी बड़े ही ऊँचे दर्जे की देखी जा सकती है। इन देवालयों की दीवालों में भव्य मूर्तियों का अंकन बड़ी ही बारीकी के साथ किया गया है। पल्लव-नरेश महेन्द्रवर्मा ने 'मत्तविलास-प्रहसन' नामक ग्रंथ लिखा, जो कला का एक श्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। इस राजवंश के सम्राटों की प्रेरणाओं के फलस्वरूप काञ्ची की ख्याति बौद्धिक केन्द्र के रूप में प्रतिपादित हो चुकी थी। सुप्रसिद्ध विद्वान् दिङ्नाग की शिक्षा इसी पुरी में सम्पादित हुई थी। पल्लवों का दरबार कवियों और लेखकों से विभूषित था। कुछ विद्वानों का मत है कि पल्लव-नरेशों ने अभिनय के उद्देश्य से भास के नाटकों को संक्षिप्त कराया था।

हुयेनसांग दक्षिणी भारत का पर्यटन करता हुआ काञ्ची आया था। वह लिखता है कि यहाँ के नागरिकों की भाषा एवं लिपि मध्य देश की भाषा एवं लिपि से मेल खाती थी। वहाँ आस-पास की भूमि बड़ी उपजाऊ थी तथा फल-फूल बहुतायत में पैदा होते थे। नगर-निवासी स्वावलम्बी, अदम्य उत्साह से युक्त, विद्याव्यसनी तथा अपने वचन को निभाने वाले थे। उसके अनुसार काञ्ची का घेरा ५ मील के लगभग था। उस समय वहाँ वैष्णव, शैव तथा जैन एवं बौद्ध मन्दिर वर्तमान थे। मठों में रहने वाले श्रमणों की संख्या दस हजार से ऊपर थी। उसके अनुसार लंका के साथ इस नगर का घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्पर्क था। उसकी भेंट वहाँ लंका के भिक्षुओं के साथ हुई थी। उनका ज्ञान उसे उच्च कोटि का लगा। उनसे प्रभावित होने के कारण वह लंका जाना चाहता था। किञ्चित् कारणों से उसकी यह इच्छा पूरी न हो सकी। उसने काञ्ची में अशोक-निर्मित एक स्तूप देखा था, जो सौ फीट से भी अधिक ऊँचा था।

मदुरा

यह सुदूर दक्षिण में स्थित था। कई शताब्दियों तक वहाँ पांड्यों की राजधानी वर्तमान थी। पांड्य लोग काफी प्राचीन थे। अशोक के अभिलेखों में उनका उल्लेख मिलता है। साहित्यिक साधनों के अनुसार जहाँ यह नगर स्थित है वहाँ पहले कदम्ब वृक्षों का एक सघन वन था। इस जंगल को काट कर यह पुरी बसाई गई थी। इसीलिये इसका दूसरा नाम 'कदम्ब-वन' भी पड़ गया। इस बात का स्पष्टीकरण यहाँ आवश्यक है कि इस नगर का मौलिक नाम मथुरा था। मदुरा नाम इसी का विकृत रूप है। इसका मथुरा नाम यमुना-तट पर स्थित सुप्रसिद्ध मथुरा पुरी के नाम पर पड़ा था। दक्षिण भारत के कई नगरों के नाम उत्तरी भारत के नगरों के नाम पर पड़े थे। उदाहरणार्थ, कृष्णा नदी के तट पर पाटलिपुत्र नामक एक लघुनगर था, जिसका नामोल्लेख द्वितीय शताब्दी के एक लेख में आता है। गोदावरी के तट पर स्थित प्रतिष्ठान का नाम प्रतिष्ठानपुर (भूँसी) के आधार पर पड़ा था। यह दक्षिणी भारत का एक प्रसिद्ध राजनीतिक तथा व्यापारिक केन्द्र था। इसी पुर को विदेशी लेखों में पैठन कहा गया है। यहाँ से कई तिजारती रास्ते होकर जाते थे। दक्षिणापथ के ये नगर दक्षिण भारत में आर्यों के आने पर बसाये गए होंगे। इसीलिए इनके नाम उत्तरी भारत के नगरों के नामों से समानता रखते हैं। इस तरह के उदाहरण अन्य देशों के इतिहास में भी देखे जा सकते हैं। यह तो एक सुविदित घटना है कि दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतवर्ष के लोगों ने उपनिवेश

स्थापित किए। फलतः वहाँ की सभ्यता भारतीय संस्कृति से प्रभावित हुई। वहाँ के सामाजिक एवं धार्मिक आचार-विचारों में भारतीयता की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। मातृभूमि से हजारों मील दूर बस कर हिन्दू उपनिवेशिकों ने स्वदेश की मधुर स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए वहाँ के कई केन्द्रों का भारतीय नाम रखा था; उदाहरणार्थ, कौशाम्बी, चम्पा, मथुरा, द्वारवती, अयोध्या, कम्बुज, गन्धार तथा कलिंग इत्यादि।

मदुरा का नगर ठीक उन्हीं शास्त्रीय सिद्धान्तों को लेकर बनाया गया था, जिनके आधार पर उत्तरी भारत के अधिकांश नगर बसे थे। इसमें भी परिखा, प्राकार, चौड़े राजमार्ग, रम्य चत्वर, सुन्दर अट्टालिकायें, उपवन तथा सरोवर आदि वर्तमान थे। तमिल लेखकों के अनुसार इस नगर का आकार कुछ उस प्रकार का था, जो कि सर्प द्वारा अपने फन और पूँछ के सटा लेने पर बन जाता है। हमारे शिल्पशास्त्रों में इस तरह के नगर को वलयाकृति या भुजंगाकृति कहा गया है। नगर के भीतर सफाई पर काफी ध्यान दिया गया था। मदुरा में दो तरह की बाजारें लगती थीं—एक तो दिन में खुली रहती थी और दूसरी रात्रि में। हर दुकान के सामने उसमें मिलने वाली वस्तुओं का पूर्ण विवरण लकड़ी के तख्तों पर जनता की सूचना के निमित्त लिख कर लटका दिया जाता था। शिलप्पदिकारम् नामक ग्रन्थ के अनुसार वहाँ के नागरिकों का चरित्र-संगठन उच्च कोटि का था। व्यभिचार को यहाँ लोग कठोर जुर्म मानते थे। इस अपराध में पकड़े जाने वाले व्यक्ति को मुख में कालिख लगा गधे पर बैठा कर पूरे नगर में घुमाया जाता था और इस प्रकार उसे अपमानित कर हमेशा के लिये बाहर निकाल दिया जाता था। वेश्याओं तथा कुट्टनियों को नगर के भीतर रहने की अनुमति नहीं दी जाती थी।

नागरिकों में अधिकांश कवि एवं लेखक भी थे। इस पुर के बाहर रमणीक उद्यान एवं लहलहाते खेत थे। इनका प्राकृतिक दृश्य शहर की व्यस्त जनता के दिल-बहलाव के लिए एक उत्तम साधन था। खाई को पार करने के लिए पत्थर के पुल बने हुए थे, जो इतने मजबूत थे कि उन पर हाथी या इसी तरह और भारी सवारियाँ सरलतापूर्वक आ-जा सकती थीं। पांड्य-नरेशों ने मदुरा की रक्षा के लिए नगर के दरवाजों पर सशस्त्र यवन पहरेदारों की नियुक्ति की थी। वे बड़े ही चौकन्ने और कुशल तीरंदाज हुआ करते थे। विविध मन्दिरों, विद्यालयों एवं भव्य प्रासादों के साथ अपने प्राचीन रूप एवं गौरव को सँजोये यह नगर अपने स्थान पर खड़ा है। समस्त भारतवासियों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने में इस नगर की एक निराली देन रही है।

पुर-शासन

४

पूर्व विवेचन से आप लोगों को यह स्पष्ट हो गया होगा कि प्राचीन भारत में नगर-जीवन कितनी विकसित अवस्था में था। पाटलिपुत्र, कान्यकुब्ज, तक्षशिला और उज्जयिनी जैसे बड़े नगर कई मील के क्षेत्रफल में बसे हुए थे। इससे प्रकट है कि उनकी जनसंख्या बहुत ही विशाल रही होगी। अनहिलपत्तन नामक नगर की जनसंख्या का काव्यात्मक वर्णन करते हुए 'कुमारपाल-चरित' नामक ग्रंथ के लेखक ने कहा है कि वहाँ के नागरिकों की संख्या को गिन लेना कुछ उसी तरह असंभव है जैसे कि समुद्र की बूँदों की गणना। भारतीय महानगरों में वाणिज्य आदि के प्रसंग में विदेशी लोग भी रहते थे। उनमें तरह-तरह की बाज़ारें लगती थीं, जिनकी दूकाने ठाट-बाट की सामग्री से संपन्न थीं। अतएव अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके शासन के लिये संघटित संस्थायें रही होंगी, जिनके ऊपर पुर के भीतर शान्ति की स्थापना तथा नगर में होने वाली हर छोटी-बड़ी घटनाओं की उचित देख-रेख आदि का सीधा उत्तरदायित्व रहता होगा।

आज भारतीय नगरों में हम महापालिका को देखते हैं जो एक प्रतिनिधि सभा होती है और जिसका पुरशासन में बहुत बड़ा भाग हुआ करता है। प्रश्न यह उठता है कि प्राचीन काल में भी हमारे देश में आज जैसी 'म्यूनिसिपेलिटी' या नगर-पालिका हुआ करती थी या नहीं। सौभाग्यवश इस सम्बन्ध में यूनानी लेखक मेगस्थनीज़ ने अच्छा मसाला छोड़ रखा है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र के शासन के लिए एक नगर-सभा थी, जिसका संघटन ऊँचे दर्जे का था। इसमें छह बड़े विभाग थे और प्रत्येक में पाँच सदस्य थे। इस तरह इसके सदस्यों की संख्या कुल मिला कर तीस रही होगी।

हर विभाग के कार्य अलग-अलग थे। पहला विभाग कला के विकास की व्यवस्था करता था। वैदिक काल से ही समाज में कारीगर बड़ी ही ऊँची दृष्टि से देखे जाते थे। नगर-सभा इस बात का ख्याल रखती थी कि किसी भी कारीगर को किसी प्रकार की शारीरिक हानि कोई भी व्यक्ति न पहुँचा सके। अगर किसी शिल्पी के हाथ को कोई दुष्ट काट लेता था, तो उसे कठोर से कठोर दंड दिया जाता था। दूसरा विभाग विदेशियों की सुविधाओं की देख-रेख करता था। यह विभाग इस बात पर सख्त ताकीद रखता था कि रहने के लिए उनको उचित स्थान मिल जाय और खाने-पीने एवं ओषधि आदि का उन्हें किसी तरह का भी कष्ट न होने पाय। यदि कोई विदेशी मर जाता था, तो उसके शव के प्रवाह की व्यवस्था करना और उसके सामान को उचित स्थान पर पहुँचा देना इसका कर्त्तव्य था।

तीसरा विभाग जन्म-मरण का लेखा तैयार करता था। इससे स्पष्ट है कि जन-गणना उस समय हुआ करती थी। नगर-पालिका के अलग खाते रहे होंगे, जिनमें जन-संख्या का पूरा ब्यौरा दर्ज रहता होगा। चौथा विभाग बाज़ारों में नियंत्रण स्थापित करता था। इसके सदस्य देखते थे कि वहाँ जो चीजें बेची जायँ, वे स्वच्छ हों और ग्राहकों के साथ किसी तरह की ठगी बेईमानी न होने पाय। पाँचवाँ विभाग व्यवसाय एवं उद्योग-धंधों के विकास की व्यवस्था करता था। यह अत्यन्त आवश्यक भी था, क्योंकि नगरों के आर्थिक जीवन के मूल उद्योग-धंधे ही थे। व्यावसायिक वस्तुओं के विनिमय द्वारा नागरिक ग्राम से खाद्यान्न प्राप्त करते थे। गौतम बुद्ध के समय में ही भारतीय नगरों में अठारह प्रकार के उद्योग-धंधों का प्रचलन था। जैसे-जैसे नगर-जीवन विकसित होता गया, वैसे-वैसे व्यवसायों की संख्या में भी अभिवृद्धि होने लगी। अतएव पुर को अधिक से अधिक संपन्न एवं वैभवशाली बनाने के लिये यह आवश्यक ही था कि राज्य व्यावसायिक विकास के हेतु नागरिकों को यथेष्ट प्रोत्साहन प्रदान करे। छठा विभाग बाज़ारों में नाप-तौल की जाँच करता था। संभव है कि केवल वे ही बाँट-बटखरे व्यवहार में लाए जाते हों, जिन पर नगर-पालिका के मुहर की छाप रहती हो। इसके लिए दूकानदारों को संभवतः किसी तरह का कर भी देना पड़ता होगा।

इसके अतिरिक्त नगर-पालिका के विभिन्न विभागों की सामूहिक जिम्मेदारी भी थी। इस रूप में उसे सर्वसाधारण की भलाई के लिए कार्य करना पड़ता था; उदाहरणार्थ, चिकित्सागृह, शिक्षालय, मन्दिर, सभागृह एवं सरोवर आदि का निर्माण। वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण नगर-पालिका ही करती थी। हर नगर-पालिका का

एक कार्यालय होता था, जिसमें उसके खाते सुरक्षित रहते थे। नगर-पालिका की मुहरें भी होती थीं, जिनमें से कुछ के नमूने भी मिले हैं। प्रामाणिकता के लिये हर आवश्यक कागज-पत्र पर इसकी मुहर पड़ी होती थी। हमारे प्राचीन शास्त्रों में शहरों में होने वाली आवश्यक लिखा-पढ़ी के सम्बन्ध में 'मुद्राशुद्ध' शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे संकेत मिलता है कि हर नगर-पालिका की मुद्राएँ रहती थीं, जिनसे उनके सभी आवश्यक लेख मुद्रित कर लिए जाते थे ताकि उनके मौलिक होने में किसी को सुबहा न हो सके या उसके नाम से किसी धूर्त द्वारा कोई जाली लेख न तैयार कर लिया जाय।

नगर-शासन अंशतः राजकीय कर्मचारियों द्वारा भी संपादित होता था। इनमें सबसे प्रमुख 'नागरक' नामक कर्मचारी था, जिसके नाम का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हुआ है। अशोक के लेखों में उसे 'नगलक' कहा गया है। उसका काम आधुनिक 'कोतवाल' और 'सिटी मजिस्ट्रेट' दोनों का ही होता था। नगर में शान्ति की स्थापना उसी की जिम्मेदारी थी। यही कारण है कि उसे कभी-कभी 'नगर-गोप्ता' भी कहा जाता था। जातकों में उसको 'नगरगुत्तिक' कहा गया है। इनमें वर्णन मिलता है कि एक बार बोधिसत्व काशी के 'नगरगुत्तिक' नियुक्त किए गए। फिर तो नागरिकों के हर्ष का ठिकाना न था। उन्होंने उनके गले में माला पहनाई और उनका बड़ा सम्मान किया। जूनागढ़ के एक लेख में वर्णन मिलता है कि नगर के प्रमुख अधिकारी का काम दुष्टों का दमन और नगर की सुरक्षा करना था।

अन्य कर्मचारियों में 'शुल्काध्यक्ष' उल्लेखनीय है। वह नगर के प्रधान दरवाजे पर स्थित चुंगीघर पर नियुक्त होता था और पुर के भीतर प्रवेश चाहने वाले सौदागरों से कर वहीं वसूल कर लेता था। वह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों सहित बाज़ारों में भी चक्कर लगाता रहता था। मृच्छकटिक में वर्णन मिलता है कि दूकानों के आसपास कर वसूल करने वाले राजपुरुष चौकन्ना होकर वैसे ही बराबर घूमते रहते थे जैसे वृक्ष और उनके पुष्पों के इर्द-गिर्द भौंरे मड़राते रहते हैं। इसी तरह 'गणिकाध्यक्ष' नामक एक कर्मचारी होता था, जो वेश्याओं की आमदनी के ऊपर कर लगाता था। वह इस बात की निगरानी रखता था कि उसके तथा उसके प्रेमी के बीच किसी तरह की अमानुषिक या निर्दय घटना न हो सके। बंदरगाहों में भी कई राजपुरुष नियुक्त किये जाते थे, जिनके प्रधान को कौटिल्य ने 'नावाध्यक्ष' कहा है। यह आधुनिक 'पोर्ट कमिश्नर' का स्मरण दिलाता है। वह इस बात की जाँच करता था कि जहाज से उतरने वाले यात्री किराया

देकर आए हैं या नहीं। विदेश से आये हुए यात्रियों को अपना 'पासपोर्ट' उसे दिखाना पड़ता था। कौटिल्य ने इसे 'सार्थप्रमाण' कहा है। अगर कोई इसे नहीं दिखाता था, तो वह संदिग्ध आचरण वाला व्यक्ति समझ कर कैद कर लिया जाता था। यह इस बात का प्रमाण है कि मौर्य-युग में ही विदेशों के साथ भारतवर्ष के लोगों का व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्पर्क था और जहाजरानी का सिलसिला विकसित अवस्था में था। यदि कोई यात्री बंदरगाह के नियमों को तोड़ने की चेष्टा करता था, तो उसे कठोर दंड दिया जाता था।

नगर के भीतर सफाई पर ध्यान दिया जाता था। राजमार्गों पर गन्दगी करना सख्त अपराध समझा जाता था। मुर्दों को ले जाने के लिये अलग रास्ता बना होता था। उनके प्रवाह के लिये एक विशेष घाट निर्दिष्ट हुआ करता था। रात्रि में कड़ा पहरा लगा दिया जाता था। हथियार-बन्द पुलिस सड़कों पर गस्त लगाती रहती थी, जिससे नागरिक सुरक्षा का अनुभव करते थे। फाहियान लिखता है कि उसके आगमन के समय चोरी और डकैती का खतरा शहरों में बहुत ही कम था। फल यह था कि लोग अपने घरों में ताला नहीं लगाते थे। बड़े नगरों में आग बुझाने के लिए एक विभाग हुआ करता था, जिसके सदस्य इस कार्य में मजे होते थे। चौरस्तों के पास राजकीय गृह में जल से भरे हुये बड़े मटके, सीढ़ियाँ तथा दूर तक जल फेंकने वाली पिचकारियाँ पहले ही रख दी जाती थीं। सूचना पाते ही वे घटनास्थल पर पहुँच कर अपने उत्तरदायित्व को निभाने की चेष्टा करते थे। उस समय आज जैसा 'फायर ब्रिगेड' तो नहीं हो सकता था, पर इस दिशा में जो कुछ भी व्यवस्था थी वह उस युग के लिए एक ऊँची चीज कही जा सकती है।

उस समय राजकीय एवं व्यक्तिगत दोनों ही तरह के चिकित्सालय वर्तमान थे। व्यक्तिगत चिकित्सालय अधिकतर वैश्यों द्वारा स्थापित किये गए थे। फाहियान लिखता है कि उनमें दीन-दुखियों को औषधियाँ मुफ्त मिल जाती थीं। चिकित्सालयों के संस्थापकों के नाम उनकी दीवालों पर उत्कीर्ण किए जाते थे ताकि उनकी पुण्य कीर्ति की याद चिरस्मरणीय हो सके। अशोक के लेखों से लगता है कि हमारे देश में बहुत पहले से ही पशु-चिकित्सालय भी वर्तमान थे। प्राचीन नगरों में धर्मशालायें और सरायें भी थीं, जिनमें टिकने वाले यात्रियों को किसी तरह का विश्राम-शुल्क नहीं देना होता था। उनका संचालक अपनी बही में यात्रियों का नाम तथा उनसे संबन्धित पूरा ब्यौरा दर्ज करता था। यदि उनमें कोई विदेशी आ जाता था, तो इस बात की सूचना संचालक तत्काल जन-

संख्या-सम्बन्धी कार्यालय में भेज देता था। षड्यंत्र का पता लगाने के लिये राज्य गुप्तचरों की नियुक्ति करता था। वे विद्यार्थी, साधु-संन्यासी या भिखमंगे के वेष में नगर के सभी मार्गों में विचरण करते रहते थे। उनकी निगाहों से किसी भेद का निकल जाना दुष्कर था। यही कारण है कि गुप्तचर को 'राजा की आँख और कान' कहा जाता था।

दीवानी और फौजदारी दोनों तरह के मामलों के निपटारे के लिए कचहरियाँ वर्तमान थीं। इनमें शहरों के मौलिक मुकदमें तो आते ही थे, इसके अलावे ग्राम-पंचायतों के फैसलों की अपील भी हुआ करती थी। हमारे प्राचीन साहित्य द्वारा न्यायालयों की कार्य-पद्धति पर अच्छा-खासा प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ, मृच्छकटिक नामक नाटक में उज्जयिनी के न्यायालय के दृश्य का बहुत सुन्दर वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ का नायक ब्राह्मण चारुदत्त बड़ा ही गरीब किन्तु सदाशय और ऊँचे आचरण वाला व्यक्ति था। उस निर्दोष को राजा के साले शकार ने जो कि दुष्ट और असली अपराधी था बड़ी धूर्तता के साथ हत्या के अपराध में फँसा दिया था। बन्दी बना कर वह न्यायालय में पेश किया गया। कचहरी के पूरे वातावरण को देख कर वह सहसा घबड़ा गया। अकस्मात् उसके मुख से निकल पड़ा—अरे! यह कचहरी तो मुझे काटने को दौड़ रही है। लगता है कि मेरे सामने भयावह सागर मौजूद हो जिसमें हिंसक जीव भरे रहते हैं। इधर-उधर जो जासूस घूम रहे हैं, वे नाक (नक्र) और घड़ियाल की तरह लग रहे हैं। हाथी, घोड़े, पालकी और शिकरम-गाड़ियाँ मुझे जीव-जन्तुओं के तुल्य लगती हैं। सामने मुहर्रिर लोग जो बैठे हैं, वे हिंसा की भावना में फन ऊपर निकाले हुए विषधर साँप की तरह लग रहे हैं। न्यायाधीश के परामर्श-दाता तथा दूत लोग कुछ कम भयंकर नहीं लगते। ओह ! मैं कहाँ फँस गया।

कचहरी में पहले मुद्दई (वादी) को नालिश करनी पड़ती थी। निर्धारित तिथि पर मुद्दालय (प्रतिवादी) को वहाँ हाजिर होना पड़ता था। एक बार बयान देने पर उसमें फिर परिवर्तन का उसे कोई अधिकार नहीं रह जाता था। गवाह से सच्चाई की आशा की जाती थी। उसे शास्त्र और गंगा-जल उठा कर कसम लेनी होती थी। झूठी गवाही गैरकानूनी और सामाजिक शिष्टाचार के नियमों के अनुसार हेय थी। मेगस्थनीज़ लिखता है कि न्यायालयों में झूठा प्रमाण देने वाले व्यक्ति को अंगच्छेद की सजा दी जाती थी। जब उज्जयिनी के न्यायालय में राजश्याल शकार झूठा शपथ लेता है, उस समय नागरिक उसे धिक्कारते हुए कहते हैं—अरे ! तू तो महा गया बीता है, रे ! तू चारुदत्त, जो हर तरह से निर्दोष

है उसे अपनी झूठी गवाही द्वारा फँसा देना चाहता है। इस पाप से तू बच कैसे सकता है ? अवश्य ही धरती माता तेरा अपहरण कर लेंगी । तू वेदों की शपथ लेने की कोशिश करता है। इतने पर तो तेरी जीभ कट कर गिर जानी चाहिए।

न्यायाधीश के पद पर योग्य और निष्पक्ष व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था। उससे यह आशा की जाती थी कि वह लौकिक प्रभावों के परे और सबके लिये समान हो। उज्जयिनी के न्यायाधीश को जब शकार धमकी देता है, तो वह डर जाता है और उसके प्रभाव में आकर चारुदत्त के विरुद्ध फैसला दे देता है। फिर तो नागरिक उसे फटकारने लगते हैं। चारुदत्त जो बड़ा ही संयत व्यक्ति था, इस पर भभक उठता है और उसे धिक्कारने लगता है कि यह न्यायाधीश कितना बेइंसाफ है। उसे न्याय का गला घुटने की कोई भी वेदना नहीं है। अगर वह इतना गलत निर्णय दे सकता है, तो उसको शायद यह भी कहने में तकलीफ नहीं होगी कि कौआ सफेद रंग का होता है। ऐसे ही राजकीय कर्मचारी भ्रष्टाचार फैलाते हैं और राजा की प्रतिष्ठा पर बट्टा लगाते हैं। लगता है कि उस समय मनुस्मृति को बहुत बड़ा प्रमाण माना जाता था। उज्जयिनी का न्यायाधीश अन्त में कहता है कि जाने दो, चारुदत्त ब्राह्मण ठहरा। मनु ने कहा है कि संसार में ब्राह्मण-वध से बढ़ कर भला और भी कोई पाप हो सकता है ? ब्राह्मण चाहे कितना भी अपराधी क्यों न हो, उसे मत मारो। रुपया-पैसा और उसकी सारी संपत्ति के साथ उसको राष्ट्र के बाहर निकाल दो। अधिकतम सजा उसके लिए यही हो सकती है।

नगर-पालिका के अतिरिक्त छोटी-छोटी समितियाँ भी रहती थीं, जिन्हें स्थानीय शासन का अधिकार प्राप्त था। इनमें कुछ तो जाति-बिरादरी की पंचायतें थीं, जिन्हें स्मृतियों में 'कुल' कहा गया है। विभिन्न उद्योग-धंधों के पालन करने वाले भी अपनी समितियाँ बनाते थे, जिन्हें 'श्रेणी' कहा जाता था। नगर के व्यापारी भी अपना संगठन बनाते थे, जिनको प्राचीन साहित्य में 'निगम' कहा गया है। इन समितियों को अपने-अपने क्षेत्रों में झगड़ों का निपटारा करने का अधिकार प्राप्त था। इनकी परम्परायें और रीति-रिवाज़ ही कानून थे जिनको राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त थी। इन्हीं कानूनों के अनुसार वे अपने सदस्यों के विवाद को सुलझाते थे। व्यापारिक और व्यावसायिक समितियों की कार्यकारिणी भी होती थी। अगर इसमें (अर्थात् कार्यकारिणी) और उससे संबन्धित समिति के सदस्यों में मतभेद या कड़ा झगड़ा पैदा होता था, तो उसका सुलझाव स्वयं राज्य करता था। राजा इस बात को देखता था कि सदस्य अपनी समिति के नियमों

का पालन करते हैं या नहीं। यदि उसके पास इनकी अवहेलना की सूचना प्राप्त होती थी, तो वह इस तरह के व्यक्ति को कठोर दण्ड देता था। राज्य का यह दृष्टिकोण इस बात का परिचायक है कि नगर की प्रतिनिधि सभायें एवं समितियाँ कितनी श्रद्धेय थीं। यह विश्वास दिलाता है कि हमारे पूर्वज प्रजातन्त्रात्मक आदर्शों को मानते और व्यावहारिक जीवन में उन्हें निभाते भी थे। दुनियाँ के अन्य देशों के इतिहास में ऐसे उदाहरण विरले ही मिलते हैं।

बंगाल से प्राप्त कुछ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि विषयपति (जिलाधीश) की, जो अपने हल्के के प्रधान नगर का प्रमुख अधिकारी भी था, सहायता के लिए कोई प्रतिनिधि सभा भी होती थी, जिसमें नगर के सम्मानित व्यक्ति सदस्य हुआ करते थे। इन सदस्यों में नगर-श्रेष्ठि उल्लेखनीय है। संभवतः वह नगर का सबसे बड़ा पूँजीपति था। जातकों के अनुसार किसी सेठ के खजाने में अस्सी करोड़ सुवर्ण-मुद्रायें भरी थीं। आज का सेठ शब्द इसी श्रेष्ठि शब्द से निकला है। वह बड़ा ही सम्मानित व्यक्ति था। उसके दान से औषधालयों एवं शिक्षण-संस्थाओं की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। इस प्रतिनिधि सभा के कुछ और भी सदस्य खास समझे जाते थे, जैसे सार्थवाह तथा प्रथम कुलिक। सार्थवाह सौदागरों का नेता था। प्रथम कुलिक व्यावसायिकों का प्रतिनिधि था। इस सभा का एक कार्यालय भी था, जिसमें इसके कागज-पत्र सुरक्षित रहते थे। इसमें मुहर्रिर लोग भी नियुक्त किये गए थे, जो लिखाई-पढ़ाई का काम करते थे। खातों को सुरक्षित रखने की जिम्मेदारी उन्हीं की थी। इस तरह की प्रतिनिधि सभा की कुछ मुहरें वैशाली (बसाढ़) की खुदाइयों में मिली हैं। इससे लगता है कि इस कोटि की भी एक महत्त्वपूर्ण नगर-समिति कम से कम उत्तर-पूर्व भारत के नगरों में अवश्य हुआ करती थी। इन पुर-संस्थाओं का संघटन तथा उनकी कार्य-पद्धति प्रशंसनीय थी। विशेषतः पाटलिपुत्र की महापालिका जैसी संस्था अपने युग के लिए असाधारण कोटि की थी। उसका मुकाबला एथेन्स या रोम जैसे नगरों के इतिहास में भी एक तरह से दुर्लभ ही है।

धर्म तथा शिक्षा

५

आज के नगर बौद्धिक केन्द्र भी माने जाते हैं। उनमें छोटे-बड़े स्कूल-कॉलेज या कला एवं उद्योग की शिक्षा देने वाली संस्थाएँ मिलती हैं। बहुत बड़े शहरों में विश्वविद्यालय बने होते हैं, जिनमें नाना विषयों में छात्र पारंगत बनाये जाते हैं। कुछ नगर ऐसे भी हैं, जो धर्म के भी केन्द्र माने जाते हैं। उनमें विभिन्न अवसरों पर देश के नाना भागों से लोग एकत्र होकर वहाँ की पवित्र नदियों में स्नान एवं देवालयों में अपनी श्रद्धा की अभिव्यक्ति करते हैं।

यदि आपसे प्रश्न किया जाय कि भारतवासियों के धार्मिक तीर्थ कौन से हैं, तो आप शायद बिना किसी हिचक के ही प्रयाग, वाराणसी, गया, अयोध्या, मथुरा, काञ्ची, अवन्तिका तथा द्वारका आदि का नाम उसी समय गिना देंगे। यहाँ उल्लेखनीय है कि ये नगर बहुत प्राचीन काल से ही हमारे पवित्र पुर माने जाते हैं। जहाँ तक प्रयाग का सवाल है, यह आज की तरह पहले भी तीर्थराज माना जाता था। यह उत्कंठा आप के मन में उठ सकती है कि इसका प्रयाग नाम कैसे पड़ा ? यह 'प्र' तथा 'याग' इन दो शब्दों के संयोग से बना हुआ है। 'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट या श्रेष्ठ होता है। 'याग' शब्द 'यज्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ यज्ञ करना होता है। यहाँ यज्ञ बहुतायत में हुआ करते थे। अग्निपुराण में कहा गया है कि इस स्थान पर यज्ञ और वेद मूर्तिमान थे। महाभारत के वनपर्व में उल्लेख मिलता है कि प्रयाग में स्वयं प्रजापति ने यज्ञ किया था। अतएव, लोग इसे 'यजनभूमि' (यज्ञस्थली) कहने लगे। यह परम्परा यहाँ अब भी चली आ

रही है । गंगा के दोनों तटों के रेतीले मैदान, पहले तथा अब भी नाना वैदिक यज्ञों के सम्पादन द्वारा पवित्र होते आए हैं ।

प्रयाग में दान का विशेष माहात्म्य माना जाता था । महाभारत के अनुसार यदि यहाँ पर थोड़ा भी दान किया जाय, तो उसका बहुत बड़ा महत्त्व होता है । पुराणों में वर्णन मिलता है कि इस नगरी में दान देने से आवागमन से मुक्ति मिल जाती है और यदि उस व्यक्ति का कहीं पुनर्जन्म हो जाता है, तो वह यहाँ चक्रवर्ती सम्राट् बनता है । इस प्रकार की धार्मिक भावनाओं से आकृष्ट होने के कारण हर काल में ही राजा तथा रंक, कवि, लेखक और व्यापारी यहाँ आए और उन्होंने वित्तानुसार दान दिया । ऐसे साहित्यकारों में काश्मीरी कवि बिल्हण विशेष रूप से उल्लेखनीय है । 'विक्रमांकदेवचरित' नामक ग्रन्थ में वह लिखता है कि वह प्रयाग कई बार आया और जीवन की सारी कमाई उसने यहाँ दान कर दी थी ।

सम्राटों में सबसे उल्लेखनीय हर्ष है । हुयेनसांग लिखता है कि वह अपने शासन-काल के हर पाँचवें वर्ष प्रयाग आकर दिल खोल कर दान देता था । इस प्रकार के अन्तिम अवसर पर वह भी प्रयाग में उपस्थित था । उसके अनुसार गंगा-यमुना के संगम के रेतीले मैदान में हर्ष ने दान का एक हाता बनवाया, जो हजार फीट लम्बा और कुछ इतना ही चौड़ा भी था । इसके भीतर कई छोटी-बड़ी झोपड़ियाँ बनाई गईं, जिनमें दान की अगणित सामग्री एकत्र कर दी गई थी । राजाज्ञा पाने पर नाना धर्मों एवं सम्प्रदायों के अनुयायी देश के विभिन्न भागों से यहाँ प्रभूत संख्या में एकत्र हुए । हर्ष उन्हें भोजन-वस्त्र तथा द्रव्य एक महीने तक दान करते रहे । इस क्रिया में उनका राजकोष खाली हो गया । हुयेनसांग के वर्णन से लगता है कि हर्ष धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त में विश्वास करते थे । हो सकता है कि चीनी यात्री का तात्पर्य अर्द्धकुम्भ से है, जो हर छठें वर्ष हुआ करता है । इसी को शायद उसने भूल से पाँचवाँ वर्ष लिख दिया है । इस समय लोग एक महीने तक प्रयाग में कल्पवास करते हैं । हुयेनसांग स्पष्ट शब्दों में लिखता है कि हर्ष यहाँ एक महीने तक रुक कर दान देते थे । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रयाग में कुम्भ-मेला की परम्परा प्राचीन है ।

कल्हण की राजतरंगिणी में वर्णन मिलता है कि काश्मीर का नरेश जयापीड़ अपने अनुचरों एवं सामन्तों के साथ प्रयाग-क्षेत्र आया था । उसने यहाँ ब्राह्मणों को एक कम एक लाख घोड़े दान में दिया और उन्हें उसने अपनी एक मुद्रा भी दी, जिस पर उसका नाम खुदा हुआ था । उसने उन्हें आज्ञा दी कि गंगा-

जल के जो कलसे प्रयाग से बाहर भेजे जायँ, उस पर उस मुद्रा से ठप्पा लगा दिया जाय। हाँ, अगर भविष्य में कोई दूसरा दानी राजा प्रयाग में पूरे एक लाख घोड़ों को दान में दे दे, तो उसकी मुद्रा को नष्ट कर दिया जाय और उसकी जगह उस नए राजा की मुद्रा को प्रचलित किया जाय। पर, कोई भी राजा यहाँ इतनी अधिक संख्या में अश्वों का दान करने में सफल सिद्ध नहीं हुआ। फलतः सभी अभिमानी नरेश जयापीड़ की मुद्रा से शोधित जल को यहाँ पीते थे और उस समय उनके हृदय में संताप की ज्वाला भभक उठती थी।

संगम में स्नान का फल विशेष माना जाता था। गंगा और यमुना इन दोनों नदियों को हमारे प्राचीन साहित्य में समुद्र की पत्नी कहा गया है। लोगों का ऐसा विश्वास था कि यहाँ जो लोग स्नान करते हैं, उन्हें चाहे परब्रह्म का ठीक ज्ञान हुआ या न हुआ हो, पर आवागमन से मुक्ति तो निश्चित ही मिल जाती है। कुछ लोग तो संगम के जल में डूब कर आत्महत्या तक कर लेते थे। पुराणों के अनुसार आत्महत्या वैसे तो महापाप है, पर प्रयाग में यह अपवाद रूप से धर्म-सम्मत है। विदेशी यात्रियों के विवरण से स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्ति, जो अपने जीवन से ऊब चुके थे या कठिन रोग से पीड़ित होने के कारण जिनको अपना अन्त अवश्यम्भावी लगता था, वे संगम के जल में कूद कर जान दे देते थे।

हुयेनसांग लिखता है कि संगम के पास ही एक साएदार वृक्ष था जिसके नीचे हड्डियाँ बिखरी रहती थीं। इसका कारण यह था कि इसकी चोटी पर चढ़ कर लोग नीचे कूद कर जीवनदान कर देते थे। इनका ऐसा विश्वास था कि इस क्रिया द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। स्पष्ट है कि यहाँ चीनी यात्री का तात्पर्य वट-वृक्ष से है। पुराणों में कहा गया है कि इसकी ऊँचाई से कूद कर, जो अपने प्राणों की बलि चढ़ा देता है, वह सीधे रुद्र-लोक पहुँच जाता है। कुछ भारतीय सम्राटों ने भी प्रयाग आकर आत्महत्या की थी। धंग नामक चन्देल-राजा रुद्र-रुद्र कहते हुए यहाँ मरा था। उत्तरगुप्त-वंशी नरेश कुमारगुप्त ने प्रयाग में धधकती चिता में कूद कर जान दे दी थी। मृच्छकटिक में शूद्रक नामक राजा का उल्लेख मिलता है, जिसने बहुत वयोवृद्ध होने तथा लौकिक इच्छाओं के पूरी हो जाने पर अग्निप्रवेश किया था। संभव है कि यह प्रयाग की ही घटना रही हो।

काशी की गणना भारतवर्ष की मोक्षदायिका पुरियों में होती थी। पुराणों में कहा गया है कि इस स्थान पर पहुँचने पर गंगा पश्चिमवाहिनी हो जाती हैं। काशी-वास आध्यात्मिक फलों से युक्त समझा जाता था। अल्बरूनी लिखता है कि

यह नगर हिन्दुओं का मक्का था। इसे लोग महादेव-पुरी मानते थे। लोगों का विश्वास था कि यहाँ मरने से मुक्ति मिल जाती है। इस धार्मिक भावना से आकृष्ट होने के कारण भारतीय नरेश बहुधा अपने जीवन के शेष दिन बिताने के लिए इसी नगरी में चले आते थे। राजतरंगिणी में मातृगुप्त तथा कलश आदि कई काश्मीरी राजाओं का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने वृद्धावस्था के समय राज्य-कार्य को तिलांजलि देकर वाराणसी में प्रवज्या ग्रहण कर ली थी। हुयेनसांग के वर्णन से स्पष्ट है कि यहाँ साधु-संन्यासी बहुसंख्या में रहते थे। वह लिखता है कि कुछ लोग अपने सिर के बालों को मुड़ा देते थे, कुछ लम्बे केश बढ़ा लेते थे और कुछ जटा-जूट बाँधते थे। कुछ लोग नंगे रहते थे और शरीर पर राख लगाते थे। वे पूजा-पाठ तथा व्रत-नियम में भूले रहते थे। निर्वाण प्राप्त कर लेना उनका असली ध्येय था। प्रयाग के समान यहाँ पर भी लोग दान देने के लिये आते थे। काश्मीर का हर्ष नामक राजा तीर्थयात्रा के प्रसंग में यहाँ आया था। उसने इस पुरी में कई मठ बनवाये। गहड़वाड़ राजाओं ने भी यहाँ कई मठों क निर्माण कराया। वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान इस नगर में खूब हुआ करते थे।

गया में लोग श्राद्ध-दान के उद्देश्य से जाते थे। गरुड़पुराण में वर्णन मिलता है कि इस तीर्थ में श्राद्ध करने वाला व्यक्ति सुरापान, ब्रह्महत्या, चोरी, व्यभिचार आदि सभी कठोर अपराधों से उन्मुक्त हो जाता है। वहाँ लोगों को श्राद्ध-शुल्क देना पड़ता था। राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर के हर्ष नामक सम्राट् ने अपने राज्य के यात्रियों को गया में श्राद्ध-शुल्क से मुक्त करा दिया था। इसी प्रकार वहाँ के अभिमन्यु नामक एक दूसरे सम्राट् ने इस तीर्थ में काश्मीरियों को श्राद्ध-शुल्क से छूट दिला दी थी।

मथुरा कृष्णपुरी मानी जाती थी। यूनानी लेखक मेगस्थनीज़ सूचित करता है कि मौर्य-युग में ही इस नगर में वासुदेव-कृष्ण की पूजा प्रचुर रूप में होती थी। विदेशी यात्री तोलेमी लिखता है कि इसे लोग 'देवताओं का नगर' कहते थे। वराह-पुराण में कहा गया है कि यह पुरी पापहारिणी है तथा इसमें रहने वाले को मोक्ष एवं सिद्धि की प्राप्ति होती है। उज्जयिनी का नगर महाकाल के मन्दिर के लिए प्रसिद्ध था। ब्रह्मपुराण के अनुसार सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाले त्रिलोचन शिव इस नगर की रक्षा करते हैं। महाकाल के मन्दिर में आरती उतारी जाती थी और गाने-बजाने का आयोजन किया जाता था। भक्तों का विश्वास था कि वहाँ की शिप्रा नाम की नदी पुण्यतोया थी और वहाँ स्नान करने से मनुष्य सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।

राम के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण अयोध्या की धार्मिक महत्ता का होना स्वाभाविक ही था। सरयू के पवित्र जल में स्नान के निमित्त सुदूर भागों के निवासी अयोध्या में एकत्र होते थे। रामायण के अनुसार अयोध्यावासी धर्मपरायण तथा अमलवृत्ति वाले थे। थानेश्वर भी भारत का एक प्रतिष्ठित धार्मिक नगर था। यह कुरुक्षेत्र के समीप पड़ता था, जो सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच स्थित था। भगवान् कृष्ण द्वारा निर्मित होने के कारण द्वारका को लोग अत्यन्त पवित्र नगर मानते थे। वराह-पुराण के अनुसार द्वारका के सेवन से मनुष्य को आध्यात्मिक तथा भौतिक सुखों की प्राप्ति होती है। प्रसिद्ध धार्मिक सभाओं की बैठकें प्रायः नगरों में ही सम्पन्न हुई थीं। जैन एवं बौद्ध संगीतियों की कार्यवाही पाटलिपुत्र, राजगृह तथा वैशाली जैसे केन्द्रीय नगरों में हुई थी। हर्ष के काल में उनकी राजधानी कान्यकुब्ज में एक बहुत बड़ी धार्मिक सभा बुलाई गई थी, जिसमें देश के नाना भागों से विभिन्न धर्मों के अनुयायी पधारे थे। नगरों में इस तरह की सभाओं के होने में सुविधा यह थी कि वे केन्द्र में पड़ते थे। यातायात एवं अन्य साधनों की वहाँ प्रचुर सुविधायें थीं।

महर्षि बौधायन ने लिखा है कि पुर में रहते-रहते मनुष्य का नेत्र, शरीर और बुद्धि गन्दी हो जाती है और फलस्वरूप वह सिद्धियों की प्राप्ति के लिए असमर्थ हो जाता है। सिद्धियों से तात्पर्य आध्यात्मिक सिद्धियों से है, बौद्धिक उपलब्धियों से नहीं। बौधायन का असली मतलब यह है कि नगर के अशान्त और व्यस्त जीवन में तपस्या संभव नहीं हो सकती। जो निवृत्तिमार्गी या लोकोत्तर-परायणता के भक्त थे, उन्हें उस नगर-जीवन से घृणा हो जाती थी, जो प्रवृत्ति या राग एवं लिप्सा से प्रभावित रहता है। जहाँ तक साहित्य और उच्च शिक्षा का प्रश्न है, भारतीय नगर हमेशा ही इनके केन्द्र थे।

तक्षशिला का नगर हमारे देश का सबसे प्रारंभिक शिक्षा-केन्द्र था। आज से लगभग छब्बीस सौ वर्ष पहले उत्तर-पूर्व भारत के भी विद्यार्थी पढ़ने के लिए इसी नगर में आते थे। कारण यह था कि अभी तक वाराणसी के नगर में शिक्षा-संस्थाएँ नहीं थीं। नालन्दा के विश्वविद्यालय का अभी तक कोई पता भी न था। फल यह था कि काशी और मगध के राजकुमार भी पढ़ने के लिये तक्षशिला ही आया करते थे। लोगों का ऐसा अनुमान है कि पाणिनि तथा कौटिल्य की शिक्षा इसी नगर में सम्पादित हुई थी। यहाँ इस बात का स्पष्टीकरण अनिवार्य है कि वहाँ आज जैसी संगठित शिक्षा-संस्थाएँ नहीं थीं। इस पुर में पारंगत आचार्य रहते थे, जिनके घर ही विद्यालय का काम देते थे। उस समय छात्र गुरु-गृह में पढ़ने जाते थे।

वहाँ शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी और विद्यार्थियों का जीवन बहुत ही संयमित एवं अनुशासित हुआ करता था। विशेषता यह है कि वहाँ विविध विषयों का अध्यापन किया जाता था। वेद और दर्शन की शिक्षा तो वहाँ दी ही जाती थी, अलावा इसके संगीत, चिकित्साशास्त्र और यहाँ तक कि धनुर्विद्या में भी लोग प्रवीण बनाये जाते थे। जीवक ने वहाँ चिकित्साशास्त्र का अध्ययन सात वर्षों तक किया था। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार यह मगध-सम्राट् बिम्बिसार का अवैध पुत्र था। वह चीड़-फाड़ के काम में भी निपुण था। वहाँ विषयों के चुनाव में जाति का प्रतिबन्ध संभवतः नहीं था। इसीलिये ब्राह्मण वहाँ पर धनुर्विद्या सीखते थे और क्षत्रिय वेद-वेदांग की पढ़ाई करते थे।

बाद में चल कर इस नगर के स्थान पर नालन्दा का विश्वविद्यालय प्रसिद्धि में आया। इतिहासकारों का अनुमान है कि इसकी स्थापना गुप्त-काल में हुई थी। नालन्दा को अगर हम 'विश्वविद्यालय नगर' (यूनिवर्सिटी-टाउन) की संज्ञा प्रदान करें, तो इसमें संभवतः कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यह नगर एकमात्र विद्या-केन्द्र के रूप में ही प्रसिद्ध था। इसके नाम की व्युत्पत्ति के विषय में एक किंवदन्ती प्रचलित थी, जिसके अनुसार बुद्ध अपने एक पुनर्जन्म में यहाँ राजा के रूप में पैदा हुए। ये बड़े ही त्यागी स्वभाव के थे और दान देने से कभी थकते नहीं थे। अतएव, इस नगर का नाम नालन्दा (न-अलम्-दा अर्थात् ऐसा स्थान जहाँ का राजा अपने बड़े से बड़े दान को थोड़ा ही समझता था) पड़ गया। हुयेनसांग लिखता है कि इस नगर का जन्मदाता शक्रादित्य नामक राजा था। इस राजा की पहचान गुप्तवंशीय सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम से की जाती है, जिसकी उपाधि महेन्द्रादित्य थी। शक्र और महेन्द्र एक दूसरे के पर्याय हैं। अतएव, शक्रादित्य से चीनी यात्री का तात्पर्य कुमारगुप्त प्रथम से ही रहा होगा।

उसके बाद और भी बहुत से भारतीय राजाओं ने इस विद्यालय को दान दिया था; जैसे बालादित्य, तथागतगुप्त, वज्र और हर्ष आदि। इस विश्वविद्यालय की कीर्ति शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय हो गई। फलतः वहाँ पढ़ने के लिए चीन और तिब्बत से भी विद्यार्थी आने लगे। सुमात्रा के राजा बालपुत्रदेव ने अपने मित्र देवपाल से, जो बंगाल का पालवंशीय शासक था, अनुरोध कर उससे वहाँ एक विहार बनवाया और उसकी आर्थिक सहायता के निमित्त पाँच ग्राम भी दान में दिलवा दिया। छोटे-बड़े सब लेकर दो सौ ग्रामों की आमदनी इस विद्यालय को आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्राप्त हो गई थी। इसका फल यह हुआ कि वहाँ विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। यदि हुयेनसांग का साक्ष्य सही माना जाय, तो वहाँ

छात्रों की संख्या दस हजार के लगभग थी। वहाँ के अध्यापकों में सबसे प्रसिद्ध शीलभद्र था। इस विश्वविद्यालय का कुलपति वही था और अपने बहुमुखी ज्ञान के लिए वह चारों ओर प्रसिद्ध था। खेद है कि इस विद्वान् की कोई भी कृति अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। वहाँ के अन्य प्रसिद्ध विद्वानों में चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र तथा जिनमित्र उल्लेखनीय हैं।

इस विश्वविद्यालय के चतुर्दिक् एक चहारदीवारी थी, जिसमें दरवाजे लगे हुए थे। प्रधान द्वारों पर विख्यात विद्वानों के नाम उत्कीर्ण किए गए थे। लगता है कि इस विश्वविद्यालय में केवल उच्च शिक्षा ही दी जाती थी। हुयेनसांग के अनुसार इसमें प्रवेश पाना बड़ा कठिन काम था। प्रधान दरवाजों पर पारंगत विद्वान् नियुक्त किए जाते थे। प्रवेश चाहने वाले विद्यार्थी से वे कड़े प्रश्न पूछते थे और यदि वे सन्तोषजनक उत्तर दे पाते थे तभी उन्हें चहारदीवारी के भीतर प्रवेश की आज्ञा मिल पाती थी। हुयेनसांग सूचित करता है कि दस में दो विद्यार्थी बड़ी कठिनाई से प्रश्नों का ठीक उत्तर दे पाते थे। गूढ़ विषयों पर वादविवाद तथा विमर्श वहाँ के विद्वानों में हुआ करता था। जिज्ञासु इतने अध्ययनशील थे कि दिन उन्हें बहुत छोटा लगता था। नालन्दा में एक बहुत बड़ा पुस्तकालय भी था, जिसमें विविध शास्त्रों से संबंधित ग्रन्थ एकत्र किए गए थे। इनकी प्रतिलिपि तैयार करने के लिए चीन और तिब्बत से लोग आया करते थे। हुयेनसांग और इत्सिंग इस विश्वविद्यालय में काफी अरसे तक रुक गए थे और उन्होंने कई ग्रन्थों का वहाँ प्रतिलेख प्रस्तुत किया था। नालन्दा के प्राचीन स्मारक महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से परिपूर्ण हैं। उन्हें देख कर अनुमान लगाया जा सकता है कि व्याख्यानभवन तथा विद्यार्थियों के रहने के लिये छोटे-बड़े कमरे वहाँ किस तरह बने थे।

वाराणसी के सीमा-प्रान्त पर स्थित सारनाथ के मठों में बौद्ध साहित्य का प्रचुर अनुशीलन हुआ करता था। हुयेनसांग लिखता है कि वहाँ छात्रों की संख्या पन्द्रह सौ के लगभग थी। वाराणसी का नगर ऐसे आचार्यों के लिए विख्यात था, जो विद्या-वारिधि थे। मध्यकालीन विदेशी यात्री बर्नियर के वर्णन से लगता है कि वहाँ नालन्दा जैसा कोई संगठित विश्वविद्यालय तो नहीं था, पर इस नगर के विद्वानों के घर ही शिक्षा-संस्थान का काम देते थे। वाराणसी के पंडितों में शास्त्रार्थ खूब हुआ करते थे। देश के सुप्रसिद्ध दार्शनिक अपने विचारों के प्रचार के लिए इसी नगर में आते थे। उस युग में आज की तरह छापेखाने या समाचार-पत्र नहीं थे। यदि कोई साहित्यकार अपनी कृति का यश-विस्तार करना चाहता था या उदीयमान विद्वान् अपने किसी मौलिक सिद्धान्त की स्वीकृति कराना चाहता था

तो इस उद्देश्य से वह वाराणसी की विद्वन्मण्डली के समक्ष अपनी रचना या विचार को प्रस्तुत करता था। उस समय विज्ञापन का यह सरल किन्तु सबल साधन था। इस पुर में शंकराचार्य भी शास्त्रार्थ के प्रयोजन से आए हुए थे।

मिथिला का नगर अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित था। वहाँ शान्तिमय वातावरण उत्पन्न हुआ, जिस कारण इस पुर का बौद्धिक विकास संभव हो सका था। उपनिषद्-काल में ही वहाँ एक-से-एक दार्शनिक और विद्वान् पैदा हुए, जिनमें कुछ के नामोल्लेख पहले किए जा चुके हैं। वहाँ के अन्य लब्धप्रतिष्ठ मनिषियों में गंगेश उपाध्याय और वर्धमान भी इस स्थल पर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस बात की चर्चा शायद पहले की जा चुकी है कि इस नगर में शंकराचार्य का शास्त्रार्थ यहाँ के प्रसिद्ध विद्वान् मण्डनमिश्र के साथ हुआ जिसमें उनकी विदुषी भार्या मध्यस्था (निर्णायक) थीं।

बाद में चल कर नालन्दा के स्थान पर बंगाल में स्थित विक्रमशिला का विश्व-विद्यालय विशेष प्रसिद्धि में आ गया। बंगाल के पालनरेश इसके संरक्षक थे। इसकी प्रतिष्ठा भी दूर-दूर तक फैल गई। वहाँ तिब्बत के भी विद्यार्थी मार्ग में नाना कष्टों का सामना करते हुए अध्ययन के लिए आते थे। छात्रों के लिए यहाँ निःशुल्क भोजन, वस्त्र तथा शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। तिब्बती ग्रन्थों के अनुसार वहाँ के कुछ आचार्य ज्ञान के भण्डार थे; जैसे बुद्धज्ञानपाद, वैरोचन, अभयंकरगुप्त और तथागतरक्षित। इस विश्वविद्यालय का सबसे प्रसिद्ध विद्वान् दीपांकर-श्रीज्ञान था। तिब्बती साधनों के अनुसार उसने दो सौ ग्रन्थों की रचना की थी।

बारहवीं शताब्दी में बंगाल में स्थित रामावती नामक नगर भी प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र माना जाता था। रामपाल नामक बंगाल के नरेश के प्रयत्न से इस नगर में एक विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। यहाँ के विद्वानों में विभूतिचन्द्र, दानशील, शुभकर तथा मोक्षाकरगुप्त खास थे। इन आचार्यों को महापंडित की उपाधि दी गई थी। दानशील अपनी अगाध विद्वत्ता के कारण उपाध्याय तथा आचार्य आदि उपाधियों से भी विभूषित किया गया था। शुभकर ने 'सिद्धैक-वीरतंत्रटीका' नामक संस्कृत-ग्रन्थ लिखा, जिसका तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया। मोक्षाकर-गुप्त तर्कभाषा के पंडित तथा संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ थे।

बंगाल में भागीरथी के तट पर स्थित नवद्वीप (नदिया) भी एक प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र था। वहाँ पर राजा लक्ष्मणसेन की राजधानी थी। उनके दरबारी

कवियों में सबसे प्रसिद्ध हलायुध था, जिसने 'ब्राह्मणसर्वस्व', 'स्मृतिसर्वस्व', 'मीमांसा-सर्वस्व' तथा 'न्यायसर्वस्व' आदि ग्रन्थों की रचना की थी। हलायुध का अग्रज भी उस काल का एक सुप्रसिद्ध विद्वान् था। उसने हिन्दू संस्कारों पर 'पशुपद्धति' नामक ग्रन्थ लिखा। गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव नदिया की विभूति थे। 'पवनदूत' के लेखक घोयी का आविर्भाव इसी नगर में हुआ था। नदिया के प्रसिद्ध विद्वानों में शूलपाणि की भी गणना की जाती थी, जिसने 'स्मृतिविवेक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

पश्चिमी भारतवर्ष में सबसे प्रसिद्ध शिक्षा का केन्द्र वलभी का नगर था। वहाँ मैत्रक राजाओं की राजधानी थी, जो पहले गुप्तों की अधीनता स्वीकार करते थे। बाद में उन्होंने शक्ति बढ़ा कर अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। इनके प्रयास से वलभी में विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। इत्सिंग सातवीं सदी के अन्तिम भाग में भारतवर्ष आया था। वह लिखता है कि उस समय उच्च ज्ञान के क्षेत्र में वलभी की ख्याति नालन्दा के ही समान थी। इस विश्वविद्यालय की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यहाँ लौकिक विषयों की भी पढ़ाई होती थी। विद्यार्थियों को राजनीति-शास्त्र तथा शासनसंबन्धी बारीकियाँ बताई जाती होंगी। यही कारण है कि वलभी के स्नातक उच्च राजकीय पदों पर नियुक्त किए जाते थे।

कभी-कभी गंगाघाटी के भी नवयुवक विद्या पढ़ने के लिए इसी नगर में आते थे। कथासरित्सागर के अनुसार गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी में वसुदत्त नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसका पुत्र विष्णुदत्त नामक था, जो केवल सोलह वर्ष की ही अवस्था में विद्याप्राप्ति के लिए वलभी आया हुआ था। नालन्दा के समान ही वलभी के विश्वविद्यालय के प्रधान द्वारों पर वहाँ के आचार्यों के नाम उत्कीर्ण किए जाते थे। वहाँ का पुस्तकालय काफी समृद्ध था। धारा का नगर भी प्राचीन काल में विद्या का केन्द्र माना जाता था। भोज नामक राजा के शासनकाल में इसकी महत्ता इस क्षेत्र में अत्यधिक बढ़ गई थी। वे स्वयं विद्याव्यसनी थे, अतएव योग, दर्शन, ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र और अलंकार-शास्त्र आदि नाना विषयों पर उन्होंने लेखनी उठाई थी। भारतीय परम्परा के अनुसार उन्होंने कई कवियों का संरक्षण किया था।

उच्च शिक्षा की भाँति व्यावसायिक शिक्षा भी नगरों में दी जाती थी। तक्षणकला, स्थापत्य, चित्रकला, काष्ठशिल्प तथा लौहशिल्प आदि विविध कलाओं में छात्रों को निपुण बनाने वाली संस्थायें नगरों में विद्यमान थीं। ये संस्थायें राजकीय

नहीं, व्यक्तिगत थीं और व्यावसायिक समितियों द्वारा संचालित होती थीं। वे शिक्षा देने का काम प्रायः अपनी प्रयोग-शालाओं में करती थीं। नवागन्तुक छात्रों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। विशेषता यह थी कि इसके बावजूद भी आचार्य शिक्षार्थी से किसी तरह की गृहपरिचर्या नहीं ले सकता था। शिल्प को पूर्ण रूप से सीख लेने के उपरान्त विद्यार्थी आचार्य की अनुमति लेकर अपने घर लौट आता था। इस तरह की व्यावसायिक शिक्षा उच्च कोटि की रही होगी। अजन्ता तथा बाघ की अनुपम चित्रकारियाँ, उत्खनन में उपलब्ध नाना प्रतिमाएँ, प्राचीन लौकिक भवन, मठ, मन्दिर, स्तम्भ, गुफाएँ तथा आभूषण आदि इसके ज्वलन्त प्रतीक हैं।

जो साहित्य नगरों में लिखा गया, उसमें वहाँ के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का प्रतिबिम्ब मिलता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र पाटलिपुत्र जैसे शहर में लिखा गया। यही कारण है कि उसमें नगर तथा नगर-जीवन से संबन्धित तमाम सारी बातें मिलती हैं। आदर्श पुर की सामान्य विशेषताएँ क्या होनी चाहिए, खाईं और दीवाल किस प्रकार से बनाई जाय, उनकी संख्या तथा विस्तार क्या हो, नगर के भीतर राजमार्गों का निर्माण किस प्रकार से किया जाय, उनके दोनों किनारों पर भवन किस रूप में बनाये जायँ—इस कोटि की विविध सूचनाएँ इस ग्रन्थ में भरी पड़ी हैं। संगीतशाला, चित्रकक्ष, वेश्या, मन्दिर, संगीत, वाद्य, नृत्यसमारोह, उद्यम, वाणिज्य, शिक्षा, वेशभूषा, आभूषण, मदिरा-मांस, आपण, प्रयोगशाला, वाहन, सराय और चिकित्सालय आदि जिन विविध विषयों का विवेचन अर्थशास्त्र तथा राजनीति-विषयक ग्रन्थों में मिलता है उन समस्त की पृष्ठभूमि वस्तुतः नगरों का सामाजिक तथा आर्थिक जीवन ही है।

वात्स्यायन का काल गुप्तों का काल माना जाता है। उन्होंने कामसूत्र में अपने कतिपय पूर्ववर्ती आचार्यों का नामोल्लेख किया है; उदाहरणार्थ श्वेतकेतु, दत्तक, गोनर्दीय तथा घोटकमुख आदि। दुर्भाग्यवश उनकी कृतियाँ प्राप्त नहीं हो सकी हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में एक अध्याय 'नागर-वृत्त' शीर्षक मिलता है। इसमें उन्होंने अपने समय के कलाप्रेमी शौकीन नागरिक की दिनचर्या का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस परिच्छेद में कपितय अन्य बातों पर भी विचार किया है; जैसे आदर्श गृह-निर्माण, भवन-वाटिका का आरोपण, गर्मियों में चाँदनी-सेवन के लिए कोठे अटारियों का बनाना, चन्दन तथा सुगन्धित अनुलेपों के प्रयोग, सुहृदगोष्ठी का आयोजन, मनोविनोद के साधन, संगीत का अभ्यास, वेश्या-जीवन, चित्रकारी, स्त्री-शिक्षा तथा आपानक (दावत-पार्टी) आदि। इससे

स्पष्ट है कि वात्स्यायन के काल (गुप्त-युग) में नगर विकसित अवस्था में थे और उनकी रचना का आधार पुर-जीवन ही था।

हमारे प्राचीन नाटकों का भी संबन्ध नगरों से ही लगता है। उदाहरण के लिए हम भासकृत 'चारुदत्त' तथा शूद्रक-कृत 'मृच्छकटिक' को ले सकते हैं। इन दोनों ही ग्रन्थों में नायिका उज्जयिनी की गुण-ग्राहिणी वेश्या वसन्तसेना तथा नायक चारुदत्त नामक उस पुरी का एक सदाशय नागरिक है। शूद्रक ने मृच्छकटिक के चौथे अंक में वसन्तसेना के जिस महल का वर्णन किया है, उससे हम प्राचीन काल के रईसों के भव्य प्रासाद के वैभव का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। वह स्फटिक-निर्मित वातयानों से युक्त था और अपनी सफेदी के कारण चन्द्रमा की शुभ्र-छटा का स्मरण दिला रहा था। वसन्तसेना का मनमोहक प्रासाद कई खण्डों का था और उसमें अलग-अलग पशुशाला, संगीतशाला, रसोईघर, शृंगारशाला तथा पक्षिशाला आदि बनी हुई थीं। मृच्छकटिक में सामान्यतया बड़े शहरों में पाए जाने वाले शराबी-कबाबी, जुआड़ी, चोर, वेश्याओं तथा नायक एवं नायिका के बीच लगाने-बझाने वाली कुट्टनियों के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर नगर-न्यायालयों की कार्य-पद्धति तथा राजकीय कर्मचारियों के कर्त्तव्यों का विश्लेषण मिलता है। दामोदरगुप्त की सुप्रसिद्ध रचना 'कुट्टनीमतम्' के भी वर्ण्य-विषय कुछ इसी तरह के हैं। उनका समय आठवीं शताब्दी के लगभग था। इस ग्रन्थ द्वारा नगर-जीवन के दूषित पक्ष को समझने में सुयोग मिलता है। इसी तरह पाटलिपुत्र, वाराणसी तथा अन्य बड़े नगरों की भी वेश्यायें क्षणिक रागवाली होती थीं और अपनी कुट्टनियों द्वारा बड़े घरों के नवयुवकों का धन चूसने के लिए झूठा प्रेम दिखा कर उन्हें फाँस लेती थीं तथा अन्त में उन्हें बर्बाद करके ही छोड़ती थीं। इस प्रकार की बातों पर उपर्युक्त ग्रन्थ द्वारा प्रकाश पड़ता है।

इसी तरह प्राचीन कथा-साहित्य का भी नगर-जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध था। इस कोटि के ग्रन्थों में बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, बृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर तथा दशकुमारचरित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में कहीं तत्कालीन सुप्रसिद्ध नगरों के वर्णन मिलते हैं, तो कहीं नगर-जीवन से संबन्धित अन्य ज्ञातव्य बातें। इनमें स्थान-स्थान पर दम्भी, धूर्त, कुट्टनी, व्यभिचारिणी स्त्रियों तथा हृदयहीन वेश्याओं के जीवन का विवेचन किया गया है। व्यापार, उद्यम, कला और द्यूत आदि विषयों का भी जिनका कि नगर अड्डा हुआ करता था—इन ग्रन्थों में वर्णन मिलता है।

प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्यों के मूल में भी नगर-जीवन की विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। हर्षचरित, नवसाहसांकचरित, विक्रमांकदेवचरित तथा राजतरंगिणी की रचना दरबारी वातावरण में हुई थी। इन ग्रन्थों में नगरों तथा राजसभा के ठाट-बाट का निरूपण प्रायः मिलता है। इनमें थानेश्वर, उज्जयिनी, कल्याण तथा प्रवरपुर आदि नगरों के वर्णन प्राप्त होते हैं जहाँ उनके आश्रय-दाताओं की राजधानियाँ वर्तमान थीं। इन ग्रन्थों में नागरिकों की वेशभूषा, आभूषण, रीति-प्रथाओं तथा दिलबहलाव के साधनों के वर्णन मिलते हैं, जो सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से उपयोगी हैं।

समाज और संस्कृति

६

आज के युग में हमें ग्राम की तुलना में शहरों में अधिक तड़क-भड़क मिलती है। जब गाँव का रहने वाला पहली बार नगर में आता है, तो वहाँ की ऊँची अट्टालिकाओं, लम्बे-चौड़े राजमार्गों पर तेज रफ्तार से भागती हुई तरह-तरह की सवारियों, नाट्य-शाला, सिनेमा-घर, मनमोहक वस्तुओं से सुशोभित दूकानों तथा रात की रोशनी आदि को देख कर वह अपने को एक नई दुनियाँ में पाने लगता है। शहर के लोगों की रहन-सहन, बात-चीत का ढंग, दैनिक चर्या तथा आर्थिक और बौद्धिक जीवन आदि ग्रामवासियों की अपेक्षा पृथक् हुआ करता है। इन सब बातों को देखते हुए हमारे मन में इस कुतूहल का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि क्या प्राचीन काल में भी ग्राम-जीवन और नगर-जीवन में इस तरह का कोई भेद होता था या नहीं ? हमारा प्राचीन साहित्य विश्वास दिलाता है कि यह अन्तर हमारे देश में कोई आज ही नहीं, पहले भी माना जाता था। इस संबन्ध में कालिदास के 'शाकुन्तलम्' नामक नाटक में एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ में दिखाया गया है कि राजा दुष्यन्त की प्रेयसी हंसपदिका उनसे रुष्ट है। वे विदूषक को आदेश देते हैं कि तुम जाकर उसे जरा 'नागरिक-वृत्त' से समझा दो। यहाँ इस शब्द से तात्पर्य शहर में रहने वाले लोगों के वार्तालाप एवं व्यवहार की चतुराई से है। हुयेनसांग लिखता है कि कान्यकुब्ज तथा अन्य नगरों में रहने वाले भारतीय नागरिकों की चाल-ढाल अनुकरणीय थी। वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित 'नागरक' शहर की सभ्यता में पले हुए कला-प्रेमी शौकीन भारतीय नागरिक का प्रतिनिधित्व करता है। उन्होंने 'नागरक' की जिस दिनचर्या का उल्लेख किया है, उसमें प्राचीन पुर-समाज के सांस्कृतिक जीवन की हमें एक सुन्दर झलक मिलती है।

पुराने समय में नागरिकों का पहनावा किस तरह का होता था यह तो स्वयं एक बड़ा विषय हो जाता है जिस पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है। यहाँ संक्षेप में इतना कह देना आवश्यक है कि चीनी यात्रियों का यह कथन कि भारतवर्ष में दर्जीगीरी होती ही नहीं थी; सरासर गलत है। उनका यह वक्तव्य नगर में रहने वालों की वेश-भूषा से नहीं, अपितु बौद्ध श्रमणों के पहनावे से संबन्धित है। चीनी यात्री यहाँ अधिकतर मठों में रहते थे जहाँ पर भिक्षु लोग बिना सिले हुए वस्त्रों को प्रयोग में लाते थे। जहाँ तक पुरवासियों का प्रश्न है, वे बारीकी के साथ सिले हुए कपड़ों का इस्तेमाल करते थे। असलियत तो यह है कि सैन्धव सभ्यता-काल से ही हमारे देश में सुई-तागे व्यवहार में लाये जाते थे तथा कपड़ों की कतरन एवं सिलाई एक पुरानी भारतीय परम्परा थी। अधोवस्त्र के रूप में अधिकतर धोती काम में लाई जाती थी, जो सूती और रेशमी दोनों ही हुआ करती थी। लोग कभी-कभी पायजामा भी पहनते थे जिसको 'स्वस्थान' कहा जाता था। लगता है कि भोजपुरी भाषा का 'सुत्थन' शब्द इसी 'स्वस्थान' शब्द का अपभ्रंश है। उत्तरीय वस्त्र के रूप में मिर्जई या कुर्त्ता का प्रयोग होता था। विशेष अवसरों पर लम्बा कोट या घुटनों तक लटकती हुई अचकन पहनी जाती थी। सिर के ऊपर लोग टोपी या पगड़ी धारण करते थे। पुर-ललनाएँ लहँगा, साड़ी, चोली तथा किनारेदार चादर प्रयोग में लाती थीं।

सिर के बालों को सजाना उस समय के श्रृंगार का एक अभिन्न अंग था। अजन्ता और बाघ की चित्रकारियाँ पुर-सुन्दरियों द्वारा बाल सँवारने के ढंग पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। स्त्रियाँ अपने बालों को काढ़ कर एक सुन्दर चोटी गाँछती थीं जिसे 'वेणी' कहा जाता था। कभी-कभी वे बालों को समेट कर माथे पर एक जूड़ा बाँधती थीं जिसे हमारे प्राचीन साहित्य में 'ललाटजूटक' कहा गया है। बाणभट्ट ने हर्षचरित में लिखा है कि थानेश्वर की वधुएँ अपने केशपाश पर जाली लगाती थीं। यह आज की महिलाओं के 'हेयर-नेट' का स्मरण दिलाता है। अधिक सौन्दर्य लाने के लिए वे अपने बालों में यथास्थान सुन्दर फूल भी खोंस लेती थीं। राजशेखर का कहना है कि कान्यकुब्ज की ललनाओं की केशरचना पूरे देश में आदर्श मानी जाती थी। उनके समय में भारतवर्ष का यह प्रधान नगर था, अतएव वहाँ के नागरिकों की वेशभूषा की नकल यदि अन्य जगहों पर की जाती हो, तो यह कोई अचरज की बात नहीं है। हमारे देश में आज दिन फैशन की रोशनी बम्बई और दिल्ली जैसे प्रधान नगरों से आती है।

वात्स्यायन लिखते हैं कि नागरक अपने बालों को भली भाँति सँवार डाले। अपने मुखवास को शुद्ध रखने के लिए उसे ताम्बूल-सेवन तो अवश्य ही करना चाहिए। उसे सफेद और चिकने वस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए ताकि उसके व्यक्तित्व का उभाड़ अच्छा से अच्छा संभव हो सके। स्नान करते समय वह 'स्नान-चूर्ण' का प्रयोग करे। लगता है कि इस शब्द से वात्स्यायन का तात्पर्य किसी तरह के उबटन से है जिसे पुरवासी नहाने के पहले इस्तेमाल में लाते थे। उनके अनुसार तीसरे या चौथे दिन नागरक को अपनी दाढ़ी अवश्य ही बनवा लेना चाहिये। उस समय आज जैसा 'सेफ्टीरेजर' या अपने हाथ से दाढ़ी बनाने का कोई साधन न था। इस काम के लिए नाई का सहारा लेना आवश्यक था, जिसका प्रति दिन मिलना असंभव था। नहीं तो, यदि वात्स्यायन आज के युग में होते, तो वे लिखते कि प्रति दिन दाढ़ी बनाना नितान्त आवश्यक है।

पुरवासी उस समय भी सुगन्धित तेल और इत्र आदि का व्यवहार करते थे। भारतीय नगरों में उनका उत्पादन बहुतायत में होता था और विदेशों में उनकी तगड़ी माँग थी। रोम का प्लिनी नामक नागरिक अपने देश-निवासियों को धिक्कारते हुए लिखता है कि वे राष्ट्र की अतुल धनराशि भोगविलास की वस्तुओं के पीछे भारतवर्ष भेज देते थे। आधुनिक केवड़ा-जल या गुलाब-जल की भाँति फूलों के निचोड़ से सुरभित जल तैयार किया जाता था, जिसे लोग छोटी पिचकारियों की सहायता से अपने वस्त्र पर भली भाँति छिड़क लेते थे। चन्दन को घिस कर अनुलेप तैयार किया जाता था, जो बड़ा ही लोकप्रिय था। इसीलिए प्राचीन साहित्य में 'चन्दनानुलेप' का प्रचुर उल्लेख मिलता है। गर्मी के दिनों में पुर-सुन्दरियाँ इससे अपने अवयवों को चर्चित करती थीं। सुवास के लिए आज लोग अगरबत्ती को व्यवहार में लाते हैं। उस समय अमीर लोग अपने बैठक-खाने, शयनगृह तथा पूजाघरों में चन्दनबत्ती या धूपबत्ती जलाते थे। स्त्रियाँ चन्दनबत्ती (कालागरु) के धुएँ से अपने केशपाश को सुवासित कर अपने प्रियतम से मिलने जाती थीं।

उस समय भी अंगराग (कास्मेटिक) का प्रयोग होता था। ये दो तरह के होते थे। एक तो केसरिया रंग का होता था, जो काश्मीर से मिलने वाले कुंकुम के केसर से तैयार किया जाता था। इसे प्राचीन साहित्य में 'कुंकुमराग' कहा गया है। यह बड़ा ही खुशबूदार होता था और पयोधर एवं नितम्ब भाग पर लगाया जाता था। दूसरा गाढ़े लाल रंग का होता था, जो लाक्षारस से तैयार किया जाता था। इसे अधरों के ऊपर चढ़ाया जाता था। इस क्रिया को 'अधर-रंजन' कहा जाता

था। यह आधुनिक युग के लिपस्टिक का स्मरण दिलाता है। कुमारसंभव में कहा गया है कि पार्वती के ओठ लाक्षारस के अंगराग की तरह लाल रंग के लगते थे। इसे चरणों पर भी चढ़ाया जाता था, जो आज के महावर का स्मरण दिलाता है। लाक्षारस का अंगराग 'अलक्तकराग' भी कहलाता था। यह कुछ वृक्षों से निकलने वाले लाल रंग की राल से तैयार किया जाता था। इसी अलक्तक शब्द से आधुनिक आल्ता शब्द निकला। आज की स्त्रियाँ आल्ते से महावर रचती हैं।

उस समय के रईसों की सवारियों में घोड़ा-गाड़ी उल्लेखनीय है। यह आकार में आधुनिक पालकी-गाड़ी या बग्घी के तुल्य थी, जिसमें कभी-कभी दो घोड़े जुते रहते हैं। उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी के प्रारंभिक भाग में धनी-मानी सेठ-साहूकारों तथा जमीदार-घरानों में इस तरह की घोड़ा-गाड़ियाँ काफी इस्तेमाल में लाई जाती थीं। पटना में इस तरह की घोड़ा-गाड़ियाँ अब भी चलती हैं। धनिक नागरिक पालकी पर भी निकलते थे। अमरावती की कला में कई तरह की हवादार पालकियों का अंकन किया गया है। नागरिक मनोविनोद के लिए उद्यानयात्रा (पिक्निक) किया करते थे। उस समय नगरों में उद्यान लगाने की प्रथा लोकप्रिय थी। मन्दसोर के लेख से ज्ञात होता है कि मालवा के दशपुर नामक नगर की वाटिकाएँ वहाँ की गजगामिनी पुर-वधुओं की चाल से सुशोभित होती रहती थीं। मृच्छकटिक में 'पुष्पकरण्डक' नामक पुरवाटिका का उल्लेख मिलता है, जो इलाहाबाद के आधुनिक कम्पनी-बाग या खुसरोबाग की तरह नगर-शोभा का प्राण रहा होगा। इस नाटक में विदूषक इसकी प्रशंसा करता हुआ कहता है कि यह उद्यान अपनी शीतलता द्वारा आज नन्दनवन को भी मात कर दे रहा है।

रघुवंश से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी के नागरिक मनोविनोद के लिए उद्यानयात्रा (पिक्निक) करते थे। इसका सबसे अच्छा वर्णन वात्स्यायन ने किया है। वे लिखते हैं कि नागरिक अच्छे वस्त्र और आभूषणों से सुशोभित हो भली भाँति सजी हुई सवारियों में बैठ कर पास के उद्यान में जायँ। वे अपने साथ खाने-पीने का सामान और गाने-बजाने की टोली को भी ले लें। वे अपना पूरा दिन वहीं पर मधुर वार्तालाप और सामूहिक मनोविनोद में व्यतीत करें और सन्ध्या के समय तक अच्छी तरह दिलबहलाव कर प्रसन्नचित्त हो घर वापस लौटें। वात्स्यायन के वर्णन से लगता है कि उस समय उद्यान-यात्रा अत्यन्त लोकप्रिय थी। पुरवाटिका प्रेमी-प्रेमिकाओं के मिलन का गुप्त स्थान भी हुआ करता था। बहुधा वहाँ से युवकों द्वारा अपनी प्रेयसी युवती को भगा ले जाने की घटनाएँ हो जाया करती थीं।

अमीरों के घर खर्चीली दावतें हुआ करती थीं जिसमें मांस-मदिरा खूब चला करती थीं। इन्हें 'आपानक' कहा जाता था। ऐसे अवसरों पर तरह तरह की मदिराएँ शराब के प्यालों में, जिन्हें 'चषक' कहा जाता था, भर कर पिलायी जाती थीं। लगता है कि राजकुल की महिलाएँ भी कभी-कभी मदिरा-पान करती थीं। मालविकाग्निमित्रम् नामक नाटक में अग्निमित्र की प्रधान महिषी इरावती मदिरा में उन्मत्त दिखाई गई है। विवाह के लिए प्रयत्न (कोर्टशिप) भी एक प्राचीन परंपरा थी। इसे 'अनुरंजन' कहा जाता था। गुणसंपन्न युवक एवं युवतियों के ऐसे भी उदाहरण मिलते थे, जिनका विवाह गरीबी या माँ-बाप के मर जाने के कारण रुक जाता था। अतएव अपने विवाह के हेतु स्वयं प्रयत्न के लिए वे बाध्य हो जाया करते थे। प्रायः धनिक कुलों में भी यह प्रथा प्रचलित थी। वात्स्यायन लिखते हैं कि जिस युवती पर युवक अनुरक्त हो, उसे वह विविध उपायों द्वारा प्रसन्न करने की चेष्टा करे। अच्छे वस्त्र एवं आभरणों से विभूषित होकर वह अपनी प्रेयसी के समक्ष जाय क्योंकि युवतियाँ प्रायः दर्शनीय व्यक्ति से ही अधिक प्रभावित होती हैं। उसके मन में अपने प्रति अनुराग उत्पन्न करने के लिए वह उसे ऐसी वस्तुओं को भेंट में दे, जिससे उसकी दिलचस्पी हो या सुन्दर कथा-कहानियाँ और मधुर गीत आदि द्वारा उसे रीझ लेने की चेष्टा करे। इसी तरह यदि प्राप्त-यौवना, किसी गुणसंपन्न एवं दर्शनीय युवक को अपनी चेष्टाओं द्वारा पति चुनने में सफल होती थी, तो वह विवाह सामाजिक दृष्टि से ठीक समझा जाता था। राजकुलों में पतिवरण के इसी सिद्धान्त को लेकर स्वयंवर की प्रथा निकली होगी।

नगर-समाज कला और संगीत का प्रेमी हमेशा से ही रहा है। उस समय के शहरों में ऐसी संस्थाएँ मौजूद थीं, जहाँ पर ललित-कला के विविध विषयों—गाना, बजाना तथा चित्रकारी आदि—की शिक्षा दी जाती थी। मालविकाग्निमित्रम् में एक कलाभवन का उल्लेख मिलता है जिसमें गणदास नामक आचार्य संगीत की शिक्षा देता था। वात्स्यायन ने लिखा है कि प्रत्येक नागरिक के लिए उच्च कला का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। ललितविस्तर नामक ग्रन्थ में राजकन्या गोपा के साथ कुमार सिद्धार्थ के विवाह का जब प्रश्न छिड़ता है उस समय उसके पिता इसके लिए अपनी अन्यमनस्कता प्रकट करते हुए कहते हैं कि हमारी कुल-परंपरा के अनुसार अभी तक कन्याओं का विवाह कला में निपुण व्यक्ति के ही साथ होता आया है। कुमार सिद्धार्थ तो कलाज्ञान से सर्वथा रहित हैं। मैं अपनी कलानिपुणा पुत्री का उनके साथ विवाह, क्यों कर दूँ? जो बाजे नागरिकों में विशेष

रूप से लोकप्रिय थे उनमें सितार, बाँसुरी और मृदंग उल्लेखनीय हैं। भास ने 'चारुदत्त' नामक नाटक में वीणा (सितार) को समुद्र से निकला हुआ रत्न कहा है। बाँसुरी (वेणु) की प्रशंसा करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं कि यह वाद्य प्रियतमा के मन को मोहने का एक प्रिय उपाय है। मृच्छकटिक के अनुसार वसन्तसेना की संगीतशाला में भौंरे की मधुर गुंजार के समान बाँसुरी अत्यन्त मधुरता के साथ बजाई जा रही थी। उसमें युवतियाँ जब अपने कोमल करों से मृदंग बजाती थीं, उस समय बादलों की गर्जन की तरह गंभीर शब्द निकलता था।

रईसों के घरों में पशुशाला और पक्षिशाला बनी होती थीं। लोग अपने मनोविनोद के लिए भेंड़ा, बन्दर और मृग पालते थे। उद्यानयात्रा (पिक्निक) के प्रसंग में वात्स्यायन ने लिखा है कि नागरिक पुर-वाटिका में भेड़ों की लड़ाई (मेष-युद्ध), तीतर-बटेर की लड़ाई (लावक-युद्ध) और मुर्गा-लड़ान (कुक्कुट-युद्ध) आदि द्वारा अपना दिलबहलाव करें। कामसूत्र में मुर्गा-लड़ान (कुक्कुट-युद्ध) की गणना चौंसठ कलाओं में की गई है। मृच्छकटिक में उज्जयिनी-वेश्या वसन्तसेना की पशुशाला का मनोरम वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार वहाँ हाथी भात, तेल और घी से मिश्रित पिण्ड का भक्षण बड़ी ही मस्ती के साथ कर रहा था और उसके पास दुष्ट बन्दर, चोर की तरह मजबूती से जकड़ दिया गया था। कहीं घोड़ों के बाल सँवारे जा रहे थे, तो कहीं भेड़ों की गर्दन मली जा रही थी। उसमें तेल से मली हुई सींग वाले बैल (बलीवर्द) जो बैलगाड़ी (प्रवहण) में जोते जाते थे, खड़े थे। समीप ही अपमानित कुलीन व्यक्ति की तरह भैंस लम्बी साँसें ले रही थी।

उसके घर में पक्षिशाला, पशुशाला से अलग बनी थी। उसका दृश्य तो और भी अनुपम था। उसमें मोर पंख को फड़फड़ाकर उल्लासपूर्वक नाच रहा था। वह अपनी सुन्दर चालों द्वारा मानों रमणियों को आदर्श गति की शिक्षा दे रहा था। खूटियों में लटकाए गए पिंजरों में बटेर, तीतर और कबूतर आदि पक्षी पाले गए थे। अन्य पिंजरों में कहीं तोता दही-भात से भरे पेट वाले ब्राह्मण की भाँति वेद-पाठ कर रहा था, कहीं कबूतरों के जोड़े आलिंगन में रत होकर सुख का आनंद ले रहे थे। कहीं तरह-तरह के फलों के रस का आस्वादन करने से प्रसन्न सुरीली कंठ वाली कोयल कूजन कर रही थी और कहीं जरूरत से ज्यादे सम्मान पाने के कारण गर्वित मैना टरटरा रही थी।

जहाँ तक उत्सवों का प्रश्न है, इस बात का निर्देश पहले ही किया जा चुका है कि भारतीय नागरिक बड़े समारोह के साथ इन्हें मनाते थे। यह हमारे

प्राचीन साहित्य और विदेशी यात्रियों के वर्णन से स्पष्ट है। भारतीय उत्सवों का परिचय इतनी थोड़ी जगह में देना संभव नहीं हो सकता। इतना कह देना काफी होगा कि भारतीय उत्सवों की पृष्ठभूमि बहुत कुछ हद तक सामाजिक और धार्मिक दोनों ही थी। यहाँ आप की जानकारी के लिए 'मदनोत्सव' का वर्णन किया जाता है, जिसका संस्कृत-नाटकों में बहुधा उल्लेख मिलता है। सम्राट् हर्ष की 'रत्नावली' नामक नाटिका में इसका एक अच्छा वर्णन प्राप्त होता है। इसके अनुसार एक बार वसन्त ऋतु के आगमन के अवसर पर कौशाम्बी के नागरिकों ने मदनोत्सव का आयोजन बहुत ठाट-बाट से किया था। इसे देखने के लिए महाराज उदयन अपने प्रासाद के कोठे पर आए। इस अवसर पर नगरवासियों का प्रमोद चरम सीमा पर पहुँच चुका था। विदूषक कहता है—महाराज! आप जरा इस मदन-महोत्सव की शोभा को तो देखें। मतवाली कामिनियाँ अपने हाथों में पिचकारी लेकर नागर पुरुषों पर रंग डाल रही हैं। पुरुषगण कुतूहलवश नृत्य कर रहे हैं और उनकी तालियों के शब्दों से गलियाँ मुखरित हो रही हैं। उड़ाए गए गुलाल से दश दिशाओं का मुख पीतवर्ण हो रहा है।

उदयन नगर-वासियों के उत्साह को देख कर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। उन्हें ऐसा लगा, मानों इस अवसर पर उनकी राजधानी कौशाम्बी कुबेर-नगरी के भी ऐश्वर्य को झूठा सिद्ध कर रही थी। इस समय तक लोगों की पिचकारियों से निकला हुआ पानी चारों ओर फैल रहा था। उस पर उद्धत स्त्रियाँ जब चलती थीं, तो उनके कपोलों से इस पर अबीर गिरता था जिससे वहाँ की फर्श लाल वर्ण की हो जाती थी। जब मनचले नागरिक अपनी पिचकारियों के जल से वेश्याओं पर प्रहार करते थे, उस समय उनका हाव-भाव और विलास देखते ही बनता था। जब लोग गुलाल तेजी से उड़ाने लगे, उस समय अन्धकार सा फैलने लगा। बीच-बीच में भूषण के रूप में धारण की गई मणियों के आलोक में जब साँप के फण की आकृति वाली पिचकारियाँ दृष्टिगोचर होती थीं, तो पाताल-लोक का दृश्य स्मरण हो उठता था।

यह उत्साह अभी चल ही रहा था कि मदनिका नामक दासी ने हाथ में आम्र-मंजरी लिए हुए महाराज को सूचित किया:—महारानी का निवेदन है कि मकरन्दोद्यान में जाकर अशोक-वृक्ष के नीचे कामदेव की पूजा करनी है, अतएव आर्यपुत्र वहाँ शीघ्र उपस्थित हों। इसके अनुसार विदूषक के साथ उदयन मकरन्दोद्यान में आए। इसकी छटा को देखते ही विस्मित हो बोल उठे—अहा! मकरन्दोद्यान कितना सुन्दर है। वसन्त के यहाँ आ जाने से ये वृक्ष भी मतवाले से मालूम पड़ रहे हैं क्योंकि

मूँगे की सदृश कान्ति वाले नव पल्लवों से इनकी लाली बढ़ गई है। भौरों का शब्द कितना सुमधुर है। दक्षिण वायु इनकी शाखाओं को हिला रही है। ऐसा लगता है कि नशे की मस्ती में ये वृक्ष झूम रहे हैं।

उधर महारानी भी अपनी परिचारिकाओं सहित उद्यान में आईं। सद्यः स्नान करने के कारण उनमें एक नई कान्ति आ गई थी। लाल रंग की साड़ी पहने काम-पूजा के लिए उद्यत, वे लगती थीं, मानों नव पल्लवों से युक्त वृक्ष की लता हों। महाराज के साथ उन्होंने आसन ग्रहण किया और पूजा-सामग्री के साथ अशोक-वृक्ष के नीचे कामदेव की अर्चना की। इस बीच सन्ध्या हो गई और वैतालिक द्वारा इसकी सूचना पाते ही महाराज देवी के साथ शयन-गृह में पधारे। रत्नावली नाटिका के इस वर्णन से लगता है कि इस उत्सव के दो पक्ष थे, वैयक्तिक तथा सामूहिक। जहाँ तक वैयक्तिक पक्ष था, महिलाएँ अपने पतियों-सहित इस समय कामदेव की पूजा करती थीं। यही कारण है कि इसका नाम 'मदन-महोत्सव' पड़ गया। इस उत्सव का सामूहिक महत्त्व नागरिकों का पारस्परिक स्नेहमिलन और मनोविनोद था। इस अवसर पर रंग, अबीर और गुलाल खूब चलता था। आज का होलिकोत्सव इसी का परिवर्तित रूप सा लगता है।

गोष्ठियाँ उस समय भी होती थीं, जिनमें नागरिक विचार-विनिमय करते थे। वात्स्यायन के कामसूत्र में गोष्ठी शब्द का उल्लेख हुआ है। इनमें चर्चा के विषय विविध थे। काव्य की कोई समस्या दे दी जाती थी और लोग उसकी तत्क्षण पूर्ति की चेष्टा करते थे। इसके अतिरिक्त कला-समस्याओं पर भी वहाँ विचार होता था। विभिन्न भाषाओं के ज्ञान का परिचय, स्वरचित कविताओं का पाठ तथा मनोरंजक कथा-कहानियों का सुनाना आदि इनमें खूब चला करता था। शिष्ट कोटि की हँसी और मजाक करने वाले लोग भी वहाँ आदर पाते थे। वात्स्यायन लिखते हैं कि गोष्ठी में भरसक ऐसी भाषा बोली जाय जिसे साधारण साक्षर भी समझ लें। वह न तो आलंकारिक या क्लिष्ट हो और न तो गँवारू किस्म की ही हो। वहाँ जो लोग शुद्ध और सर्वसुलभ भाषा का प्रयोग करते थे, उनका बड़ा नाम हो जाता था। गोष्ठी में आदर पाने के लिए कोई आवश्यक नहीं था कि पाण्डित्य उच्च कोटि का हो। वात्स्यायन के अनुसार कला-प्रेमी नागरिक शास्त्रीय ज्ञान के सीमित होने पर भी अपने मधुर वार्तालाप, आकर्षक चाल-ढाल तथा समयोचित प्रसंग को छेड़ने तथा उन पर प्रकाश डालने की रीति द्वारा मित्रमंडली को प्रभावित कर देते थे।

चौपड़ और शतरंज का खेल भी एक प्राचीन भारतीय परंपरा है। वात्स्यायन लिखते हैं कि नागरिकों को चाहिए कि वे शतरंज या चौपड़ के खेल के सामान हमेशा अपने बैठक या शयनगृह में रखें। शतरंज की महीन चालों द्वारा वे अपनी कुशाग्रता का परिचय तो दे हीं, साथ ही साथ इष्ट मित्र एवं प्रियजनों की मंडली में इस खेल से वे अपना मनोविनोद भी करें। इस समय उनकी मेज पर स्वागत के लिए पान की डिबिया भी पड़ी हो और सुविधा के लिए फर्श पर एक पीकदान भी होना चाहिए। आप शायद यहाँ पर जानना चाहते हों कि उस समय जुए का खेल होता था या नहीं। इस संबन्ध में यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि अत्यन्त प्रारंभिक काल से ही हमारे देश में जुआ खेला जाता था। कौरवों एवं पांडवों के जुए का खेल तो प्रसिद्ध ही है। पुराने शहरों के खास मुहल्लों में जुआघर (द्यूतगृह) बने हुए थे, जिनकी सरकारी लिखा-पढ़ी की जाती थी। इनके संचालक हुआ करते थे, जिनको सभिक कहा जाता था। उसे द्यूतगृह स्थापित करने के लिये राज्य को कर देना पड़ता था। जुआघरों की देख-रेख के लिए राजकीय कर्मचारी भी हुआ करते थे। इसी तरह के पदाधिकारी को कौटिल्य ने 'द्यूताध्यक्ष' कहा है।

मृच्छकटिक द्वारा जुआड़ियों के खेल पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस ग्रन्थ में एक जुआड़ी इसकी प्रशंसा करता हुआ कहता है कि अजी, इस खेल का जायका तो बिना ताज की बादशाहत की तरह है। इसके चमत्कार को तो कुछ पूछो नहीं। जो चाहो इससे वही मिल जाय। सुन्दरी, महल, कुबेर की संपत्ति या दिल की कोई भी मुराद इससे पूरी हो जाती है। इस ग्रन्थ में एक हारे जुआड़ी की दयनीय दशा का बड़ा अच्छा वर्णन मिलता है। जुए में सब कुछ लुटा देने के कारण वह प्रतिज्ञा करता है कि अब वह आइन्दा इस तरह के खेल या दाँवपेंच के चक्कर में नहीं आएगा। पर, ज्योंही कौड़ियों की आवाज उसे सुनाई देती है उसका मन इसे खेलने के लिए ललच उठता है। वह अत्यन्त खेद प्रकट करते हुए कहता है कि जिस तरह युद्ध के लिए पुकार करता हुआ नगाड़े का शब्द या तुरही की आवाज हारे हुए राजा के मन को लड़ाई लड़ने के लिए ललचा देती है, उसी तरह 'कत्ता-शब्द' (कौड़ियों की आवाज) मेरे मन को लुभा दे रहा है। मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि जुए का खेल उसी तरह बर्बादी की जड़ है जिस तरह सुमेरु पर्वत की चोटी से फिसल कर चूर-चूर हो जाना, तब भी पासे का शब्द मुझे आज अपनी ओर बरबस खींच रहा है। मैं अपने मन को इससे हटाने में असमर्थ पा रहा हूँ। जैसे गदही कामुक गदहे को अपने पैरों के प्रहार से घायल कर देती है और तब भी वह उसका साथ नहीं छोड़ता, वैसे ही इस जुए रूपी गर्दभी की चोट बराबर खाकर भी मैं इसकी ओर ललच उठता हूँ। जिस तरह

महाभारत की लड़ाई में अंगराज कर्ण की शक्ति से घटोत्कच बुरी तरह घायल हो गया था, उसी तरह इस जुए रूपी शक्ति के प्रहार से मैं पूर्ण रूप से धराशायी हो गया हूँ।

मृच्छकटिक के वर्णन से लगता है कि जुए की शर्तों का पालन बड़ी कड़ाई के साथ करना पड़ता था। यह आवश्यक था कि दाँव पर, जो संपत्ति रखी जाय या कोई वादा किया जाय, उसे बिना किसी हिचक के अदा कर दिया जाय। जुए के खेल में उज्जयिनी का एक हारा हुआ जुआड़ी, हारी हुई रकम को देने में अपने को असमर्थ पाता है। फिर तो उसके ऊपर चारों ओर से बौछारें पड़ने लगती हैं। जीता हुआ जुआड़ी उससे कहता है कि इस समय तू कहीं भी भाग कर नहीं जा सकता। अगर तू स्वर्ग-लोक या पाताल-लोक में भी शरण लेना चाहे तब भी तेरी खैरियत नहीं है। पैसा तो तुझे देना ही पड़ेगा। अगर तेरे पास कुछ भी नहीं है, तो तू अपने शरीर को बेंच कर इसे पूरा कर, नहीं तो तुझे अपनी जिन्दगी से हाथ धोना पड़ेगा। इसी बीच वसन्तसेना आ जाती है। वह उसे धिक्कारती हुई कहती है—तू तो बड़ा ही गया बीता है रे, केवल थोड़े से ठिकरों के लिये पंचेन्द्रियों से बनी हुई ईश्वर की अनुपम रचना को मार डालना चाहता है। भला, तेरा कल्याण होने वाला है। अवश्य ही तेरा विनाश होगा। बड़ी मुश्किल से वह उसे छुड़ा पाती है।

यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि प्राचीन नगर-जीवन का एक दूषित पक्ष भी था जिसमें वेश्याएँ, कुट्टनी एवं चोर आदि आते थे। मृच्छकटिक तथा दशकुमारचरित आदि ग्रन्थों में दुष्ट वेश्याओं के काले कारनामों के उल्लेख मिलते हैं। मृच्छकटिक में कहा गया है—अजी, इन वेश्याओं का तो कुछ पूछो नहीं। भला, उनका कोई भरोसा हो सकता है। ये झूठा प्रेम दिखा कर युवकों को फाँस लेती हैं और अन्त में उन्हें चौपट करके ही छोड़ती हैं। सन्ध्याकालीन लाली की भाँति वे क्षणिक राग वाली होती हैं। वे सागर की लहरों से भी चंचल होती हैं और पुरुष का सारा धन चूस कर उसे नींबू की भाँति निचोड़ डालती हैं। हृदय से तो वे अन्य किसी पुरुष से प्रेम करती हैं, पर लोभ के पीछे ऊपरी प्रेम और ही से दिखाती हैं। उनका विश्वास करना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि उनका सारा व्यवहार छल-प्रपंच से भरा होता है। जैसे खेत में फेंका हुआ जौ धान नहीं हो सकता या गधे घोड़े का काम नहीं कर सकते अथवा कमिलिनी पर्वत की चोटी पर नहीं उग सकती, वैसे ही वेश्या का आचरण पवित्र नहीं हो सकता। इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह उसका परित्याग उसी तरह कर दे, जिस प्रकार श्मशान-भूमि पर पड़ा हुआ सुन्दर पुष्प अस्पृश्य समझ कर छोड़ दिया जाता है।

इस नाटक में विदूषक एक हितैषी के रूप में चारुदत्त से कहता है—मैं ब्राह्मण होकर आपके पैरों पर गिर कर कहता हूँ कि आप वेश्या का साथ छोड़ दें। गणिका तो जूते में पड़ी किंकिणी के समान है, जो एक बार घुसने के बाद बड़ी कठिनाई के साथ निकाली जाती है। मित्र! अधिक क्या कहूँ, जहाँ वेश्या रहती है वहाँ बुरे आदमी भी नहीं जाते, सज्जनों का तो कहना ही क्या? उनके इन्द्रजाल से भगवान् ही बचायें। वे धन के लिए क्षण में हँसती हैं और क्षण में ही रोती भी हैं। बाहर से वे पुरुषों को विश्वास दिखाती हैं पर उनका दिल प्रवंचना से भरा होता है। उज्जयिनी का न्यायाधीश विस्मित होकर चारुदत्त से पूछता है—आर्य! क्या यह सच है कि आपकी मित्रता किसी गणिका से है। चारुदत्त इसको स्वीकार करने में शर्माता है।

राजश्याल शकार उज्जयिनी-वेश्या वसन्तसेना के रूप पर लट्टू है, पर वह उससे नफरत करती है। जब वह शकार के फंदे में नहीं आती, तब वह उसे धिक्कारता हुआ कहता है—अरे! तुझे किस बात का घमंड है? तू तो उस बावड़ी की तरह है जिसमें पढ़ा-लिखा पंडित, मूर्ख और अछूत सभी नहाते हैं। तेरी दशा तो उस लता की तरह है जिस पर मोर और कौवे सभी बैठते हैं। तू उस नौका की तरह है जिस पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी बैठते हैं। तेरा घर तो कामियों का वासस्थान है। मार्ग की लता के समान तू जनता-जनार्दन की संपत्ति है। तू तो रूप का सौदा करती है। जो पैसा दे दे, वही तुझे खरीद सकता है। तेरे लिए तो प्रिय और अप्रिय समान ही हैं। मृच्छकटिक के उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि उस समय भी वेश्याओं का जीवन कितना गिरा हुआ था और किस तरह वे समाज में बड़ी नीची निगाह से देखी जाती थीं।

जो वेश्यायें वृद्ध हो जाती थीं, उनका रूप-व्यापार खतम हो जाता था। अतएव वे कुट्टनी का काम करना प्रारंभ कर देती थीं। वे एक तरह से नई वेश्याओं के लिए मार्गदर्शक का काम करने लगती थीं और उसके लिए उनकी आमदनी में हिस्सा लेती थीं। दयनीय दशा में पड़ी युवतियों को गणिका-वृत्ति सिखा देना और उनके लिए युवकों को फाँस लेना उनका काम था। कुट्टनियों के हथकंडों और उनकी जीवन-वृत्ति के ऊपर हमारे दो प्राचीन ग्रन्थों से प्रकाश पड़ता है—एक तो 'कुट्टनीमतम्' और दूसरा 'दूतीकर्मप्रकाश'। कुट्टनीमतम् की रचना दामोदरगुप्त ने की थी, जो आठवीं शताब्दी के एक काश्मीरी कवि थे। इस ग्रन्थ में वाराणसी की विकराला नामक एक कुट्टनी का उल्लेख मिलता है। मालती नामक एक लावण्यमयी युवती सफल वेश्यावृत्ति सीखने की गरज से विकराला के दरवाजे पर पहुँच जाती है।

उसने देखा कि विकराला एक गद्दे़दार आसन पर बैठी हुई है। उसके अगल-बगल के दाँत तो बिलकुल ही गिर गए थे। आगे के बचे हुए दाँत मुख से बाहर निकल आए थे। उसकी ठुड्डी झुकी हुई थी। नाक का अगला हिस्सा मोटा और चिपका हुआ था। उसकी आँखें भीतर धँस गई थीं। बाल पक गए थे और गर्दन साफ दिखाई देती थी, नसों से भरी और अधिक फैली हुई। उसके दोनों ही वस्त्र सफेद और धुले हुए थे। वह गणिकाओं से घिरी थी।

मालती ने विकराला को जमीन पर सिर रख कर प्रणाम किया। विकराला ने उससे कुशल-क्षेम पूछ कर बैठ जाने का आदेश दिया। अवसर पाते ही मालती हाथ जोड़ कर विकराला से युवकों को फाँस लेने के दाँव-पेंच पूछने लगी—माते ! जरा बता तो मुझे वह मंत्र जिसको तुमसे सीख कर नर्मदा नामक गणिका ने धनवर्मा की सारी संपत्ति रखा कर उसे अब अपने चरणों का दास बना लिया है। वही मर्म तुमसे मदनसेना ने सीखा जिसका नतीजा यह है कि सागरदत्त का मझला लड़का मनचला नयदत्त माँ-बाप, घर-गृहस्थी भूल गया है और बराबर उसकी चापलूसी में लगा रहता है। वही भेद जब मंजरी को मालूम हुआ, तो उसने भट्ट के पुत्र नरसिंह को चंगुल में कर लिया। अब तो वह उसके चरणों को हमेशा सहलाता रहता है। तुम्हारे उसी मंत्र का परिणाम है कि भवदत्त दीक्षित का लड़का शुभदेव अपना धन-दौलत फूँक कर खरी-खोटी सुनने और लाख दुत्कारे जाने पर भी केसर-सेना का दरवाजा नहीं छोड़ता। यह सब तुम्हारे ही उपदेशों का चमत्कार है कि बाजारू औरतें भी कामुक जनों को फाँस कर उनका सारा धन हर लेती हैं और तन ढकने के लिए उनके पास केवल फटा-पुराना वस्त्र भर छोड़ देती हैं।

पर, हे माता ! अब मैं क्या करूँ ? अपने देह को मैं बाजार में बिक्री के लिए सजा देती हूँ, पर मुझे कोई नहीं पूछता। मुझे जरा अनुग्रह कर वह उपाय बता दो जिससे मैं भी किसी संपन्न युवक को अपने जाल में फँसा लूँ। विकराला ने मनोहर आकृति वाली मालती की पीठ को प्रेमपूर्वक सहलाया और फिर शृंगारिक चेष्टाओं तथा मनोहर चितवन के उस जादू भरे असर को समझाया, जिससे कामुक जन मदनाकुल हो जाते हैं। अगर तू भी अतुल धन-सम्पदा हरण करना चाहती है, तो पहले राजकर्मचारी भट्ट के लड़के को अपनाने की चेष्टा कर। इसके लिए तुम्हें उसके पास चतुर दूती भेजना होगा, जो कुटिल बातें करने वाली हो और उसके चित्त की दशा को समझने में निपुण हो।

वह उसके पास पहुँच कर ताम्बूल और फूल-उपहार अर्पित कर इस प्रकार कामोद्दीपक वचन बोले—हे रमणीबल्लभ ! तुम मालती के दिल में पैठ गए हो।

उसकी दशा तो इस समय कुछ पूछो नहीं। काम-वेदना से संतप्त और ठगी-सी वह कभी तो पलंग पर, कभी जमीन पर, कभी पल्लव की सेज पर और कभी जल में पड़ जाती है। वह पागल की तरह व्यवहार करने लगी है, कभी वह हँसती है, कभी अपनी स्वाभाविक धीरता छोड़ कर जोरों से रोने लगती है। फिर गाने लगती है और फिर एकाएक मौन साध लेती है। उसके अंगों में रोमांच हो आता है। क्षण ही में तीव्र आह और वेदना उसे उत्पन्न होती है, क्षण ही में वह काँपने लगती है और क्षण ही में वह पसीने से आर्द्र हो उठती है। हे सुतनु ! कमल, जल, हार और यहाँ तक की कदली, चन्दन तथा कपूर भी उसके ताप को शान्त नहीं कर पाते। भौरों की मधुर गुंजार तथा कोयल की सुरीली कंठ उसे काटने दौड़ती है। हे कामदेव के प्रतिरूप ! वह स्वप्न में तुम्हें अपने आलिंगनपाश में कसने की चेष्टा करती है, पर जब असलियत का उसे ज्ञान होता है तब वह शर्मा जाती है। बलशाली मदन देवता ने उस बिचारी गरीब अबला को इस दयनीय दशा को पहुँचा दिया है। अब तुम्हीं उसकी रक्षा कर सकते हो, नहीं तो निश्चय ही उसे जान से हाथ धोना पड़ेगा। विपत्ति में पड़े प्राणियों के उद्धार के लिए ही तो तुम्हारे जैसे शुभजन्मा पुरुष जन्म लिया करते हैं।

जहाँ तक सुन्दरता का सवाल है, उसके सामने पार्वती का भी लावण्य झूठा है। बस तुम यही समझो कि समस्त शोभाओं के निचोड़ से ब्रह्मा ने उस मालती का निर्माण किया है। अगर तुम उसे पा जाते हो, तो इसे तुम अपना बड़ा भाग्य समझना। इसके बाद विकराला ने मालती को समझाया कि जब भट्ट का लड़का यह सब सुनेगा, तो वह तेरे ऊपर अनुरक्त होकर तेरे पास आएगा। उस समय तू दूसरा नाटक करना। तेरी माँ तुझे उस समय सिखाएगी कि रुपये-पैसे वालों के साथ तेरा किसी तरह का भी संपर्क रखना ठीक नहीं है। वे धोखेबाज और क्षणिक राग वाले होते हैं। ऐसे लोगों का कोई भी ठिकाना नहीं है और उनसे दूर ही रहना अच्छा है। उस समय तू माँ से झगड़ जाना और कहना कि मैंने एकमात्र इसी से प्रेम किया है। इसके बिना मेरा मर जाना ही ठीक होगा। इस पर वह युवक तेरे ऊपर सब कुछ निछावर कर देगा और तेरा काम हमेशा के लिए बन जाएगा। दामोदरगुप्त के इस वर्णन से आपको प्राचीन कुट्टनियों के हथकंडों का ज्ञान हो गया होगा। किस तरह गुमराह नौजवान विषय-भोग के पीछे उनके माया-जाल में आकर सदा के लिए अपनी बर्बादी का एक शर्तिया नुस्खा खरीद लेते थे।

इन पेशेवर कुट्टनियों के अलावा कुछ और भी तरह की कुट्टनियाँ होती थीं। 'दूतीकर्मप्रकाश' नामक ग्रन्थ में इक्कीस तरह की कुट्टनियों का वर्णन हुआ है। इनमें धोबिन, दर्जिन, दाई, नाइन तथा मनिहारिन खास थीं। वे भी नायक और नायिका के बीच लगाने-बझाने में एक छटी होती थीं। उपर्युक्त रचना का लेखक उनके छल-प्रपंच पर प्रकाश डालता हुआ लिखता है कि इनके चरित को भगवान् ब्रह्मा भी नहीं समझ सकते, मनुष्य की तो बात ही छोड़ दो। कुट्टनियों और उनकी पुछलगी गणिकाओं ने उज्जयिनी, वाराणसी और पाटलिपुत्र सरीखे प्राचीन भारतीय नगरों में श्रृंगार-हाट खोल रखा था, जहाँ रूप की सौदागीरी होती थी*। अगर इस परंपरा को देखना हो तो आज की काशी नगरी को देखिए। वहाँ यदि एक ओर बाबा विश्वनाथ या संकटमोचन की पवित्र गली है, तो दूसरी ओर छिनाल-पतुरिया और गुमाश्तों की भी गली खुली हुई है।

उस समय के चोर-बदमाश भी बड़े ही मजे खिलाड़ी हुआ करते थे। उनके कार्य-कलापों की ठीक जानकारी के लिए मृच्छकटिक और दशकुमारचरित को पढ़ना चाहिए। मृच्छकटिक में चोरी-विद्या (चौर विज्ञान) के एक विद्यार्थी का उल्लेख मिलता है। इससे ज़ाहिर है कि चालबाज उस्ताद अपने ही तरह घुप्पलबाज चेलों को पैतरेबाजी सिखाते थे। वे लोग सेंध मारने की कला, घर के भीतर घुस कर बड़ी ही सफाई के साथ सामान गायब कर देना और जरूरत पड़ने पर चकमा देकर निकल जाना आदि चोरी से संबन्धित तरह-तरह की बारीकियों को माजते थे। इस ग्रन्थ में एक चोर दूसरे से कहता है कि अजी, चोरी करना कौन बुरी बात है? यह काम तो बड़े-बड़े महापुरुषों ने भी किया है। अश्वत्थामा ने भी तो चोरी के ही साथ अपने शत्रुओं का बध किया था? दूसरी बात यह है कि यह जीविका का एक स्वतंत्र पेशा है। इसमें कोई नौकरी थोड़े ही बजानी है। जब

---

*'कुट्टनीमतम्' के रचयिता दामोदरगुप्त के मन में सन्देह था कि उनकी रचना का, अपरिपक्व विचारों वाले लोगों के मस्तिष्क पर कहीं प्रतिकूल असर न पड़ जाय और वे गलत रास्ता न पकड़ लें। अतएव वे अपने पाठकों को अन्त में आगाह करते हुए कहते हैं कि इस ग्रन्थ के गूढ़ अर्थ को ही ग्रहण करना चाहिए। जो व्यक्ति विट, धूर्त, वेश्या एवं कुट्टनी के चंगुल में न पड़ेंगे, उनका जीवन हर तरह से सुखी रहेगा—

"काव्यमिदं यः श्रृणुते सम्यक्काव्यार्थपालनेनासौ।
नो वंच्यते कदाचिद्विटवेश्याधूर्तकुट्टनीभीरिति ॥"—श्लोक १०५८

वह सेंध मारने जाता है, तो देवताओं की पहले बन्दना करता है—हे खटपट महाराज! जरा आप शान्त रहिएगा और हे रात्रियों में विचरण करने वाले गण! आप लोगों को भी मैं नमस्कार करता हूँ। मेरे ऊपर कृपया कल्याण कीजिएगा ताकि मेरा बाल भी बाँका न हो सके। जब राजमार्ग पर वह पहरेदार को देखता है, तो उसके प्राण सूख जाते हैं। पर, वह बखूबी उसकी आँख बचा कर चम्पत हो जाता है। फिर तो वह छल-प्रतारणा पर अपनी विलक्षण दखल और दूसरों को चकमा देने वाली नाज पर डींग मारता हुआ फूले न समाता है।

गणिका, कुट्टनी तथा धूर्त एवं प्रवंचकों के जीवन से सहसा इस नतीजे पर पहुँच जाना कि शहर गंदगी के घर थे, ठीक न होगा। इसका स्पष्टीकरण पहले ही किया जा चुका है कि भारतीय नागरिकों का चरित्र-संगठन उच्च कोटि का था। मृच्छकटिक के नायक चारुदत्त को ही लीजिए। यद्यपि उसका संबन्ध वेश्या के साथ हो गया था तथापि उसके अन्य गुण श्लाघनीय थे। इस ग्रन्थ के लेखक के शब्दों में वह सद्गुणों का केन्द्र, गरीबों का साथी और रोगियों के लिए ओषधि के तुल्य था। पड़ोसी लोग तो उसे घर के सदस्य की तरह समझते थे। जिस समय न्यायाधीश ने उसे फाँसी की गलत सजा दे दी और जब वह राजपुरुषों द्वारा शूली पर चढ़ाने के लिए ले जाया जाने लगा, उस समय पुरवासियों के आँखों से आँसू के परनाले बहने लगे। वे ईश्वर से बारबार प्रार्थना करने लगे कि सज्जनों का कुटुम्बी, सब प्रकार से निर्दोष चारुदत्त छूट जाय। यह इस बात का प्रमाण है कि सदाशय नागरिक लोकप्रिय हुआ करता था। भाईचारे की यह भावना पुरवासियों की विशाल-हृदयता का परिचय देती है। यही कारण है कि विदेशी यात्रियों ने भारतीय नागरिकों के दिल और दिमाग की विशेषताओं की ऊँची तारीफ की है।

"स्वस्ति कर्तृ-लेखक-वाचक-श्रोतृभ्यः"

सहायक ग्रन्थ-सूची

(क) मूलग्रन्थ

अर्थशास्त्र : सम्पादक-यौली, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसी दास, बनारस, १९२३ ।

काव्यमीमांसा : सम्पादक—सी०डी० दलाल, बड़ौदा, १९१७ ।

कुट्टनीमतम् : दामोदरगुप्त, प्रकाशक—मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद ।

नवसाहसांकचरित :—(प्रकाशक) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।

मानसार : सम्पादक—डॉ० प्र० कु० आचार्य, प्रकाशक—आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस ।

महाभारत : सम्पादक—विष्णु सुकथंकर, १९४२ ।

मृच्छकटिक : सम्पादक—आर० डी० करमारकर, द्वितीय संस्करण, १९५० ।

राजतरंगिणी : सम्पादक—रामतेज शास्त्री, पंडित पुस्तकालय, काशी ।

रत्नावली : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी ।

रामायण : सम्पादक—टी०आर० कृष्णाचार्य, प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०५ ।

विक्रमांकदेवचरित् : सम्पादक—पं० विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९५८ ।

हर्षचरितम् : सम्पादक—ए० ए० फूहरर, प्रकाशक—गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल प्रेस, बम्बई ।

(ख) विदेशी यात्रियों के विवरण

ऑन य्वान् च्वांग, वाटर्स, १९०५ ।

फाहियान, लेग्गे, आक्सफोर्ड, १८८६ ।

फाहियान, गाइल्स, लन्दन, १८७७।

मेगस्थनीज़ ऐण्ड एरियन, मेक्रिण्डिल, लन्दन, १८८७।

(ग) आधुनिक लेखकों के ग्रन्थ

इण्डोलॉजिकल स्टडीज़, भाग ३, लाहा बि० च०, गंगा नाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, १९५४।

एजूकेशन इन ऐंशेंट इण्डिया अल्तेकर अ० स०, प्रकाशक—नन्दकिशोर ब्रदर्स, बनारस, तृतीय संस्करण १९४८।

ऐंशेंट इण्डियन एजुकेशन, राधा कुमुद मुकर्जी, लन्दन, १९४७।

ऐंशेंट टाउन्स ऐंड सिटीज़ इन गुजरात ऐण्ड काठियावाड़, अल्तेकर अ० स० मेजगॉव, १९२६।

टाउन प्लैंनिग इन ऐंशेंण्ट इण्डिया, बि० बि० दत्त, कलकत्ता, १९२५।

डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स, मललसेकर, लन्दन, १९३७।

प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, लेखक का शोध-प्रबन्ध, प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९६५।

भारतीय वेशभूषा : डॉ० मोती चन्द्र, भारती भण्डार, प्रयाग, संवत् २००७।

लोकल गवर्नमेण्ट इन ऐंशेंट इण्डिया—रा० कु० मुकर्जी, आक्सफोर्ड प्रेस, द्वितीय संस्करण १९२०,।

सार्थवाह, डॉ० मोतीचन्द्र, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५३।

सोशल लाइफ इन ऐंशेंट इण्डिया, हरेन चन्द्र चकलदार, कलकत्ता, १९२९।

टाउन प्लैंनिग इन ऐंशेंट दक्कन्, अय्यर ।

उज्जयिनी इन ऐंशेंट इण्डिया, लाहा बिमल चरण, पब्लिश्ड बाई दी आर्क्यालॉजिकल डिपार्टमेंट, ग्वालियर गवर्नमेंट, १९४४।

(घ) अनुसन्धान-पत्रिकाओं के लेख

कौशाम्बी इन ऐंशेण्ट इंडिया, लाहा बिमल चरण, आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, संख्या ६०।

प्राचीन भारत में नगर-शासन, हिन्दुस्तानी, जिल्द २४, अंक ३ तथा ४, १९६३, (लेखक का अनुसन्धान-लेख)।

प्राचीन उज्जयिनी : एक ऐतिहासिक परिचय, हिन्दुस्तानी, जिल्द २१, अंक १, १९६० (लेखक का अनुसन्धान-लेख)।

प्राचीन पाटलिपुत्र, लेखक का अनुसन्धान-लेख, हिन्दी अनुशीलन, भारतीय हिन्दी परिषद्, मार्च १९५८ का अंक।

श्रावस्ती इन इण्डियन लिटरेचर, लाहा विमल चरण, आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, संख्या ५०।

(ङ) पुरातत्वीय सामग्री

इंडस वैली सिविलाइज़ेशन, मार्शल, लन्दन, १९३१।

इंडस सिविलाइज़ेशन सर मार्टिमर ह्वीलर, प्रकाशक—कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५२।

दी मानुमेण्ट ऐट साँची, आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९१३-१४।

नालन्दा ऐण्ड इट्स एपिग्रैफिकल मैटिरियल्स, आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९४२, संख्या ६६।

तक्सिला, भाग १-३, सर जान मार्शल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५१।

ऐंशेंट इण्डिया, संख्या ५।

ऐंशेंट इण्डिया, संख्या १०-११।

शब्दानुक्रमणी

फलक १

कुशीनगर का पुर-द्वार, साँची

फलक २

कपिलवस्तु, साँची (पूर्वी तोरण)

फलक ३

कुशीनगर का एक दूसरा द्वार, अमरावती

फलक ४

कुशीनगर, साँची (दक्षिणी तोरण)

फलक ५

सुरक्षा-दीवाल, एरण

फलक ६

श्रावस्ती, साँची (उत्तरी तोरण)

फलक ७

बाज़ार का एक दृश्य, भरहुत

फलक ८